योगेश्वर श्रीमहादेव मुखारविन्दाद्विनिसृतम्

श्री श्री गुरुतन्त्रम्

[हिन्दी भाषानुवाद सहितम्]



श्री मानव कल्याण सत्संग मंडल
कनखल

❀ श्रीहरिः ❀

श्री मानवकल्याण-ग्रन्थमाला — प्रथम पुष्प

विद्यावारिधि ग्रन्थमाला—द्वितीय पुष्प

योगेश्वर श्रीमहादेव मुखारविन्दाद्विनिसृतम्

श्री श्री गुरुतन्त्रम्

[हिन्दी भाषानुवाद सहितम्]

— टीकाकार —

हिन्दी-साहित्य के धुरन्धर लेखक, अनेक ग्रन्थों के टीकाकार, रचयिता तथा तन्त्रों के आदि अनुवादक मुरादाबाद निवासी कान्यकुब्ज-कुल-कमल-दिवाकर

श्री पं० बलदेवप्रसाद जी मिश्र

तथा

साहित्यभूषण

श्री पं० महावीरप्रसाद जी मिश्रकृत

भूमिका-टिप्पणी-परिशिष्टादि विविध विषयैं विभूषितम् ।

— प्रकाशक —

श्री मानवकल्याण-सत्संगमण्डल

मु० पो० कनखल (हरिद्वार)

प्रकाशक—

श्री मानवकल्याण-सत्सङ्गमण्डल

महात्मा गाँधी मार्ग,

मु०पो० कनखल (हरिद्वार)

प्रथमवार — २००० प्रतियाँ

संवत् २०२४ — सन् १९६७ ई०

मूल्य : एक रुपया पचास पैसे

मुद्रक—

श्री देवेन्द्र विज्ञानी,

विज्ञान प्रेस, ऋषिकेश

(जि० देहरादून)

भूमिका

कृते श्रुत्युक्त मार्गस्यात्, त्रेतायाँ स्मृतिसम्भवः ।
द्वापरे तु पुराणोक्तः, कलावागमसम्मतः ।।

शास्त्र का वचन है कि सत्ययुग में वेद के अनुसार, त्रेतायुग में स्मृति के अनुसार, द्वापरयुग में पुराण के अनुसार और कलियुग में तन्त्र के अनुसार धर्माचरण करना चाहिये ।

भगवान् शंकर ने श्री पार्वती जी से कहा है कि—

कलिकल्मषदीनानां द्विजादीनां सुरेश्वरि ।।५।।
मेध्यामेध्य विचाराणां न शुद्धिः श्रौतकर्मणा ।
न संहिताद्यैः स्मृतिभिरिष्टसिद्धिर्नृणां भवेत् ।।६।।
विना ह्यागममार्गेण कलौनास्ति गतिः प्रिये ।।७।।
श्रुतिस्मृतिपुराणादौ मयैवोक्तं पुरा शिवे ।
आगमोक्त विधानेन कलौ देवान्यजेत्सुधीः ।।८।।

—महानिर्वाण तंत्र

हे सुरेश्वरि ! कलियुग के पापों से ग्रसित, दीनभाव को प्राप्त हुए, पवित्र-अपवित्र विचारहीन द्विजातिकों (ब्राह्मण, क्षत्रिय

और वैश्यों) की शुद्धि वेदोक्त कर्म द्वारा नहीं होगी। पुराण, संहिता और स्मृति से भी मनुष्य अपनी इष्टसिद्धि नहीं प्राप्त कर सकेंगे ॥५-६॥ हे प्रिये ! कलिकाल में आगमपंथ के अतिरिक्त मनुष्यों के लिये और कोई गति नहीं है ॥७॥ हे शिवे ! मैं श्रुति, स्मृति और पुराण आदि में पहले कह चुका हूँ कि बुद्धिमान् मनुष्य कलियुग में तांत्रिक विधान से देवताओं की पूजा करें ॥८॥ (उल्लास २)

यही कारण है कि सर्वत्र तांत्रिक विधान का प्रचार है किन्तु तांत्रिक विधान में गुरु-दीक्षा परमावश्यक है क्योंकि बिना गुरु-दीक्षा लिये किसी भी प्रकार से सिद्धि प्राप्त नहीं होती। अब प्रश्न यह उठता है कि कैसे गुरु से दीक्षा लेने पर सिद्धि प्राप्त हो सकती है ? इसके लिये महानिर्वाणतंत्र में भगवान् शंकर का वचन है कि—

पशुभावः कलौ नास्ति दिव्यभावोऽपि दुर्लभः ।
वीरसाधनकर्म्माणि प्रत्यक्षाणि कलौ युगे ॥१९॥
कुलाचारं विना देवि ! कलौ सिद्धिर्न जायते ।
तस्मात्सर्वं प्रयत्नेन साधयेत्कुलसाधनम् ॥२०॥
कुलाचारेण देवेशि ! ब्रह्मज्ञानं प्रजायते ।
ब्रह्मज्ञानयुतो मर्त्यो जीवन्मुक्तो न संशयः ॥२१॥

अर्थात् कलियुग में पशुभाव तो है ही नहीं, दिव्यभाव भी

दुलभ है। इस कलियुग में वीरसाधन द्वारा कर्मानुष्ठान प्रत्यक्ष फल का देने वाला है ॥१६॥ हे देवि ! कुलाचार के बिना कलियुग में सिद्धि नहीं मिल सकती, इसलिये सब प्रयत्नों द्वारा कुलसाधन करना चाहिये ॥२०॥ हे देवेशि ! कुलाचरण करने से ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है और ब्रह्मज्ञानयुक्त मनुष्य जीवन्मुक्त होता है, इसमें सन्देह नहीं ॥२१॥ (उल्लास ४)

इन शब्दों से यह सिद्ध होता है कि कुलाचारी ही गुरु होना चाहिये और इस प्रस्तुत पुस्तक 'गुरुतंत्र' का मत भी यही है। कुलाचरण करने वाले व्यक्ति कौल या कौलिक कहलाते हैं।

महानिर्वाण तंत्र के चौथे उल्लास में यह भी लिखा है कि बहुत से जन्मों में उपार्जित पुण्यों के प्रभाव से कुलाचार में जिनकी मति होती है वे पवित्रात्मा कुलाचार के अवलम्बन से साक्षात् शिवमय हो जाते हैं। जहाँ भोग की विशेषता होती है वहां योग नहीं होता और जहां योग होता है वहां भोग का अभाव रहता है, किन्तु कौल गणों को भोग और योग दोनों ही प्राप्त होते हैं। कुलतत्व के ज्ञाता पुरुष द्वारा एक की ही पूजा करने पर समस्त देव-देवियों की पूजा हो जाती है। सुवर्ण परिपूर्ण पृथ्वी के दान करने से जो फल प्राप्त होता है, उससे करोड़ गुना अधिक फल कौलिक की सेवा-पूजा से प्राप्त होता है। जो सत्यभाषी, पवित्र और जितेन्द्रिय होकर कुलाचार का अनुष्ठान करेगा, जो दयाशील रहेगा, जो गुरु की सेवा में तत्पर,

माता-पिता के चरणों में भक्तिमान्, अपनी पत्नि में अनुरक्त, सत्यव्रत, सत्यनिष्ठ और सत्यधर्म परायण हो कुलसाधन को ही सत्य समझेगा तथा जो हिंसा, मात्सर्य, दम्भ व द्वेष से रहित हो कुलधर्म में निष्ठा रक्खेगा और जो स्नान, दान, तप, तीर्थ दर्शन, व्रत, तर्पण, गर्भाधान तथा पितृश्राद्ध आदि क्रियाएँ कुलाचार के अनुसार करेगा उसको कलि पीड़ा नहीं पहुंचा सकेगा। जो लोग कुटिलता और मिथ्याचार से रहित, परोपकार निरत, साधु-स्वभाव और स्वच्छ मन से कुलमार्गी होते हैं, कलियुग उनका दास हो जाता है। कलियुग दोषों का भंडार होते हुए भी उसमें एक महान् गुण है कि उसमें सत्य प्रतिज्ञ कौलिकों के संकल्प मात्र से श्रेय फल प्राप्त होता है।

इन्हीं सब कारणों से 'गुरुतंत्र' में एक कौलिक को ही श्रेष्ठ गुरु माना है। इस गुरुतन्त्र में समस्त मन्त्र-शास्त्र के स्रष्टा भगवान् शंकर ने ध्यानयोग और गुरुसेवा द्वारा मन्त्रसिद्धि का चमत्कार जगदम्बा माता को सुनाया है जो बहुत ही सरल साधन है।

पशुभाव और दिव्यभाव आदि का वर्णन प्रस्तुत पुस्तक के अन्तर्गत टिप्पणी में किया गया है, इसीलिये भूमिका में उन भावों पर प्रकाश नहीं डाला गया।

मेरे पितृव्य, तंत्रों के आदि अनुवादक और भारतवासी, भारतभानु तथा सोल्जर पत्रिका आदि समाचार-पत्रों के

सम्पादक स्वर्गीय श्री पं० बलदेव प्रसाद जी मिश्र ने जिस समय गुरु तंत्र का हिन्दी अनुवाद किया था, उस समय वे भारतवासी पत्र के सहकारी सम्पादक थे। इस हिन्दी अनुवाद सहित गुरुतंत्र की सम्वत् १९५३ की छपी हुई प्रति मैंने देखी। उस प्रति से यह ज्ञात नहीं हो सका कि इसके कितने संस्करण हुए ? आज उसी प्रति का संशोधन करके और यथास्थान आवश्यक टिप्पणियों से अलंकृत कर साधकों के लिये परमोपयोगी इस गुरुतंत्र का प्रकाशन किया जा रहा है। कौलिक मनुष्यों में स्त्री और पुरुष दोनों ही गुरु हो सकते हैं, अतः गुरुतंत्र के अन्त में पुरुष और स्त्री गुरु के अलग-अलग अलभ्य स्तोत्र और कवच भी दे दिये हैं। आशा है साधकगण इस छोटे से किन्तु उपयोगी ग्रन्थ से लाभ उठाकर मेरे परिश्रम को सफल करेंगे।

यदि साधक गणों से भविष्य में उत्साह मिलता रहा तो और भी परमोपयोगी तांत्रिक ग्रन्थ हिन्दी अनुवाद सहित उनके करकमलों में उपस्थित करता रहूंगा।

विद्यावारिधि पुस्तकालय, मोती बाजार, हरिद्वार

सज्जनों का कृपापात्र
महावीरप्रसाद मिश्र

मेरे श्री गुरुदेव !

मेरे पूज्य गुरुदेव अल्मोड़ा जिलान्तर्गत सर्प ग्राम के निवासी आङ्गिरस गोत्रीय श्री पं० भवानीदत्त जी जोशी शास्त्री थे। वे मेरे ही गुरुदेव नहीं, मेरे पूज्य पिता श्री विद्यावारिधि श्री पं० ज्वालाप्रसाद जी मिश्र तथा मेरे पितृव्य तंत्रों के आदि अनुवादक श्री पं० बलदेव प्रसाद जी मिश्र और सुप्रसिद्ध सुलेखक श्री पं० कन्हैयालाल जी मिश्र के भी वे विद्यागुरु और दीक्षा-गुरु थे। इसके अतिरिक्त मुरादाबाद का प्रायःसमस्त पंडित समाज उनका शिष्य था। वे जवाहरलाल संस्कृत पाठशाला के प्रधानाध्यापक और नगर के शिरोमणि पंडित थे। जवाहरलाल संस्कृत पाठशाला की स्थापना से पूर्व गुरुदेव मुरादाबाद के वल्लभ मुहल्ले की संस्कृत पाठशाला के प्रधानाध्यापक थे, वहीं मेरे पूज्यपिता श्री ने उनसे शिक्षा पाई थी और शिक्षित होकर वे उसी पाठशाला में द्वितीयाध्यापक नियुक्त हुए थे।

पाठशाला में गुरुदेव के उपस्थित न होने पर, उनके विद्यार्थियों को पढ़ाने के लिये जब प्रथम बार मेरे पिताश्री को गुरुदेव के बैठने के स्थान पर जाना पड़ा तो उन्होंने गुरुदेव की गद्दी पर बैठने से यह कहकर इन्कार कर दिया कि गुरुदेव

की अनुपस्थिति में मैंने इस गद्दी को सदैव मस्तक झुकाया है, यह मेरे बैठने का स्थान नहीं हो सकता और उन्होंने अलग बैठकर विद्यार्थियों को पढ़ाया। इस प्रकार का समय कितनी ही बार आया और कुछ अनभिज्ञ लोगों ने इसकी कटु आलोचना की। अन्त में पिताश्री ने उस पाठशाला का अध्यापन कार्य छोड़कर किसरौल मुहल्ले में श्री कामेश्वरनाथ मंदिर के सामने कामेश्वरनाथ संस्कृत पाठशाला के नाम से एक नवीन पाठशाला स्थापित की। यह बात सन् १८८२ ई० की है। उक्त कामेश्वर-नाथ संस्कृत पाठशाला पिताश्री के जीवनकाल तक अबाध रूप से बड़ी सुन्दरता पूर्वक चलती रही, जिसमें सहस्रों विद्यार्थियों ने विद्या-लाभ किया।

श्री गुरुदेव का हम सब पर पुत्रवत् स्नेह था। पूज्य पिताश्री के सन् १९१९ में स्वर्गवास के पश्चात् एक समय गुरुदेव घर पधारे। उस समय उन्होंने मेरे पितृव्य श्री पं० कन्हैयालाल जी मिश्र से मेरी शिक्षा-दीक्षा के सम्बन्ध में चर्चा की। उसी समय मेरी उपस्थिति में उन्होंने अपने विद्यार्थी-जीवन की अद्भुत घटना सुनाई।

श्री गुरुदेव ने बताया—'बाल्यावस्था में मैं अपने गाँव के समीप जहाँ पढ़ने जाता था, वहाँ के पंडित जी बड़े क्रोधी थे और वे विद्यार्थियों को बहुत मारते थे, मुझ पर भी बहुत मार पड़ती थी। एक दिन मैं घर से चला तो उनकी मार के भय से

पाठशाला न जाकर बिना कुछ सोचे-समझे समस्त दिन चलता रहा। संध्या होने पर मैं भूखा-प्यासा और थका हुआ एक टीले पर बैठ गया और सोचने लगा कि अब क्या करना चाहिये? उसी समय मैंने एक वृद्ध ब्राह्मण को अपने सामने की दिशा से आते देखा। वे उस समय कौशिकी गंगाजी के किनारे से संध्या-वन्दन करके लौट रहे थे। उन्होंने भी मुझे टीले पर बैठे देखा और संकेत से नीचे बुलाया। मैं टीले से उतरकर जब उनके पास पहुँचा तो उन्होंने मेरे सिर पर हाथ रखकर बड़े स्नेह से मेरा नाम और ग्राम पूछा। उनके स्नेह को पाकर मैं रो दिया। वे जितना ही मुझ से पूछते थे, मैं उतना ही अधिक रोता था और उन्हें कोई उत्तर नहीं देता था। अन्त में पूछना छोड़कर वे मेरा हाथ पकड़े हुए अपने घर पहुँचे, वहाँ उन्होंने अपनी पत्नि से जो कुछ भी कहा हो, यह मैं नहीं जानता, किन्तु मैंने उनकी पत्नि का मातृवत् स्नेह पाया। उन्होंने तुरन्त ही हाथ-मुँह धुलाकर मुझे भोजन कराया। भोजन करके उस दिन मैं सो गया।

'अगले दिन पंडित जी ने मेरे परिचय के सम्बन्ध में जो कुछ मुझ से पूछा, मैंने उन्हें सब बताया, किन्तु जब उन्होंने मुझे घर पहुँचाने की बात कही तो मैंने घर जाने से इन्कार कर दिया। तब पंडित जी ने कुछ सोच-विचार के पश्चात् मुझे अपने पास रखना स्वीकार कर लिया। पंडित जी के यहाँ विद्यार्थी पढ़ने आते थे। वे पंडित जी को गुरु जी और उनकी धर्मपत्नि को

माता जी कहते थे, अतः मैं भी उनके प्रति उसी प्रकार के सम्बोधनों का प्रयोग करने लगा। वहाँ मेरा मन लग गया। मैं वहाँ लगभग दस वर्ष रहा, इस बीच में गुरुजी अथवा माता जी ने मुझे कभी किसी प्रकार की ताड़ना नहीं दी।

'गुरुजी के यहाँ गौ थी। मेरा कार्य गौ की सेवा करना, गुरु जी की पूजा के स्थान और पात्रों को शुद्ध करना, गुरु जी की सेवा करना और माता जी की आज्ञा का पालन करना था। गुरु जी के आदेश के अनुसार समय मिलने पर गुरु जी के पढ़ाते समय मैं विद्यार्थियों के पास आ बैठता था और जो गुरु जी पढ़ाते थे, उसे सुनता रहता था। मेरे पास कोई पुस्तक आदि नहीं थी। गुरु जी के यहाँ रहने तक मैंने कभी कोई पुस्तक नहीं पढ़ी, न मैंने कभी कुछ याद किया और न गुरु जी ने मुझ से कभी कुछ पूछा। गुरु जी के अधिक वृद्ध हो जाने पर उनकी पूजा के लिये गंगाजल लाने का मेरा कार्य और बढ़ गया था। कौशिकी गंगा जी उस गाँव से काफी दूर थीं। रात्रि को गुरु जी के चरण दाबने का मेरा एक विशेष कार्य था। जब तक गुरु जी सोने की आज्ञा नहीं देते थे, तब तक मैं उनके चरण दाबता रहता था और उनकी आज्ञा पाकर वहीं पृथ्वी पर बिछे बिस्तर पर सो जाता था।

'इस प्रकार दस वर्ष के लगभग व्यतीत होने पर एक दिन गुरु जी ने मुझ से कहा कि वत्स! अब तुम योग्य हो गये हो, मेरी इच्छा के अनुसार अब चार वर्ष के लिये तुम काशी

प्रयाण करो। मैं तुम्हें वहां के एक विद्वान् पंडित जी के नाम पत्र लिखे देता हूँ, उनके पास ही रहकर तुम विद्याध्ययन करना और उनकी सच्चे हृदय से सेवा करना। मैं तुम्हारी सेवा से बहुत प्रसन्न हूँ, तुम्हारा कल्याण होगा।

'यह सुनकर मेरे हृदय में बड़ा सन्देह हुआ कि मैंने तो यहाँ रहकर कभी एक अक्षर भी नहीं पढ़ा, फिर मैं कैसे योग्य हो सकता हूँ ? और काशी जाकर वहाँ के पंडित जी को क्या बताऊँगा कि मैंने अब तक क्या पढ़ा है ? मेरे इन भावों को गुरु जी ताड़ गये और बोले--वत्स ! सन्देह को त्याग दो, अब तुम यहाँ की शिक्षा समाप्त कर योग्य हो गये हो, यह मेरा आशीर्वाद है।

'ऐसे स्पष्ट वचन सुनकर एक दिन शुभ मुहूर्त में गुरु जी से विदा लेकर मैं काशी चला गया और पंडित जी के यहाँ पहुँच कर मैंने उनके चरण स्पर्श करके उनको गुरु जी का पत्र दिया। पंडित जी उस समय मध्यमा के चतुर्थ खंड के विद्यार्थियों को पढ़ा रहे थे। पत्र पढ़कर उन्होंने मुझसे पूछा कि अब तक तुमने क्या पढ़ा है ? मैं इसका क्या उत्तर देता ? इसलिये मौन ही रहा। मुझ से उत्तर न पाकर क्षण भर बाद ही उन्होंने सिद्धान्त-कौमुदी का एक सूत्र बोलकर कहा—इसे लगाओ । भगवान जाने, कैसे ? मैंने तुरन्त ही उस सूत्र की व्याख्या कर दी। तब पंडित जी बोले—ठीक है, बैठ जाओ । आज्ञा पाकर मैं बैठ गया। पढ़ाने के पश्चात् वे मुझे अपने घर ले आये।

पूर्व गुरुजी के गृह और इस नवीन गृह की व्यवस्था में विशेष अन्तर नहीं था, अतः अपने कर्तव्य के अनुसार मैं वहाँ भी सेवा में लग गया। यहाँ यदि अन्तर था तो वह यह था कि यहाँ गुरु जी ने मेरे लिये पुस्तकों का प्रबन्ध किया था और जब वे मेरे सहपाठियों को पढ़ाते थे, तब मुझे भी वहाँ उपस्थित रहकर पुस्तक खोलकर बैठना पड़ता था। किन्तु उन्होंने मुझसे किसी पुस्तक की कोई बात कभी नहीं पूछी और उस समय के अतिरिक्त मुझे भी पुस्तक खोलने का कभी समय नहीं मिला। दोनों ही गुरु अच्छे कर्मकाण्डी थे। वे जब भी कहीं कोई कर्म कराने जाते थे तो वे सदैव ही मुझे अपने साथ ले जाते थे।

इस प्रकार चार वर्ष व्यतीत होने पर उन काशी के गुरुजी ने एक दिन मुझसे कहा कि वत्स ! मैं तुम्हारी सेवा से परम प्रसन्न हूँ। जिन पंडित जी का पत्र लेकर तुम मेरे पास आये थे, वे मेरे परम मित्र हैं। उन्होंने तुम्हारे विषय जो कुछ लिखा था, ठीक वैसा ही मैंने तुम्हें पाया। गुरु-सेवा कभी निष्फल नहीं जाती। मेरे और मेरे मित्र के आशीर्वाद से तुम पूर्ण विद्वान् हो गये हो, अब तुम अपने घर जाकर गृहस्थी बनो। इस प्रकार उनका आशीर्वाद लेकर उनकी आज्ञा से मैं घर जाकर गृहस्थी हुआ और उसके पश्चात् से मुरादाबाद आकर पढ़ा रहा हूँ।

इस प्रकार गुरुदेव ने अपनी सेवा द्वारा गुरुजनों को प्रसन्न करके उनके आशीर्वाद से विद्या प्राप्त की।

शास्त्र का भी वचन है कि—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।।

अर्थात् जिसकी अपने इष्टदेव के समान ही गुरु में भक्ति है, उसी जिज्ञासु के हृदय में कथन किये हुए शास्त्र के अर्थों का प्रकाश होता है।

निरुक्त के नैगमकांड द्वितीयाध्याय के प्रथमपाद की समाप्ति में लिखा है कि—

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा
तथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत् ।।

अर्थात् जो व्यक्ति विद्यादाता गुरु का मन, वाणी तथा कर्म द्वारा सत्कार नहीं करते, ऐसे शिष्य जिस प्रकार गुरु द्वारा पालन करने योग्य नहीं होते, वैसे ही उनका अध्ययन किया हुआ शास्त्र उनकी रक्षा नहीं करता अर्थात् सदाचार परिपाटी से रहित होकर अध्ययन किया हुआ शास्त्र दृष्टफल का देने वाला नहीं होता। इसलिये देवबुद्धि से गुरुसेवा करना आवश्यक है।

मेरे गुरुदेव व्याकरण, काव्य और न्यायशास्त्र तथा कर्मकांड के धुरन्धर ज्ञाता और विद्वान् थे, उन्होंने पुस्तक हाथ में लेकर विद्यार्थियों को कभी नहीं पढ़ाया। उनके विद्यार्थी आचार्य तक की परीक्षा में बैठते थे। निरस विषयों को भी वे काव्य की नांई रोचक रूप से पढ़ाते थे।

उनका निरभिमानीपन, सादा जीवन, सरल स्वभाव और प्रेम हृदय-पटल से कभी भी दूर होने वाला नहीं है। लगभग ८० वर्ष की अवस्था में सन् १९२७ विजयादशमी गुरुवार को ब्राह्ममुहूर्त में मुरादाबाद में ही उन्होंने अपनी जीवनलीला समाप्त की।

खेद का विषय है कि गुरुदेव की सुनाई हुई इस वास्तविक घटना में स्मरण न रहने के कारण मैं उनके गुरुजनों के नामों का उल्लेख नहीं कर सका।

यह गुरुतन्त्र भी मन्त्रसिद्धि के लिये गुरुसेवा के उपदेशों से ओतप्रोत है। आशा है कि सुविज्ञ साधक इससे अवश्य लाभ उठावेंगे और सर्वसाधारण अपनी प्राचीन शिक्षापद्धति एवं परम्पराओं का ज्ञान प्राप्तकर अनुकूल आचरण से उत्थान की ओर अग्रसर होंगे।

कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा, श्री गुरुदेव का चरणरेणु

सम्वत् २०२३

महावीरप्रसाद मिश्र

विद्यावारिधि-पुस्तकालय,
मोती बाजार, हरिद्वार

समर्पण

दृष्टान्तो नैव दृष्टस्त्रिभुवनजठरे सद्गुरोर्ज्ञानदातुः,
स्पर्शश्चेत्तत्र कल्प्यः स नयति यदहो स्वर्णतामश्मसारम् ।
न स्पर्शत्वं तथापि श्रितचरणयुगे सद्गुरुः स्वीयशिष्ये,
स्वीयं साम्यं विधत्ते भवति निरुपमस्तेन वाऽलौकिकोऽपि ।।

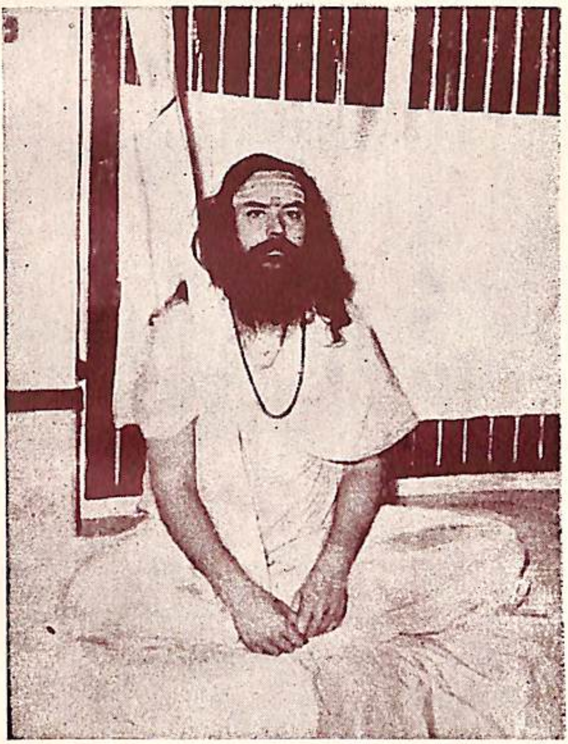
परमपूज्य गुरुदेव !

गुरु-महिमा से ओत-प्रोत एवं तान्त्रिक साधना में परमोपयोगी लघुकाय यह 'गुरुतन्त्र' नामक ग्रन्थ आपके करकमलों में सादर समर्पित कर दीर्घकालीन साध पूरी कर रहा हूँ। अपने शिष्य को आशीर्वाद प्रदान करें कि मानवकल्याण के निमित्त अपनी चिरइच्छित योजनाओं को जनता के सहयोग से पूरा कर सकूं।

: अध्यक्ष :
श्री मानवकल्याण-
सत्सङ्गमण्डल
मु०पो० कनखल (हरिद्वार)

श्रीचरण किंकर
कल्याणानन्द ब्रह्मचारी





श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ
अनन्त श्री विभूषित सद्गुरु दण्डिस्वामी
श्री स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज
आध्यात्मिक उत्थान मण्डल
परमहंसी गङ्गा, श्रीनगर
[नरसिंहपुर]

श्री गणेशाय नमः

श्री गुरु तन्त्रम्

ॐ नमः परमदेवतायै

कैलास शिखरासीनं देवदेवं जगद्गुरुम् ।
शंकरं रहसि प्रीत्या पप्रच्छ परमेश्वरी ॥१॥

श्री देव्युवाच—

देवदेव जगद्वन्द्य सृष्टिस्थित्यन्त कारक ।
परमेश महेशान सर्वभूतहिते रत ॥२॥
त्वत्प्रसादान्महादेव गुह्याद्गुह्यतरं महत् ।
श्रुतं स्तोत्रंच कवचं देवानाञ्च महेश्वर ॥३॥
गुह्यं सहस्रनामाख्यं कस्मैचिन्न प्रकाशितम् ।
तत्सर्वं कृपया देव मयि सम्यक् प्रकाशितम् ॥४॥

(एक समय) कैलास पर्वत के शिखर पर बैठे हुए देवताओं के भी देवता, जगद्गुरु महादेव जी से परमेश्वरी पार्वती जी ने एकान्त में प्रेमपूर्वक पूछा ॥१॥ श्री देवीजी बोलीं—हे जगत्-वन्दनीय देवाधिदेव! आप सृष्टि के उत्पन्न, पालन और नाश करने वाले तथा संसार के समस्त प्राणियों के हित में लगे रहने

इदानीं श्रोतुमिच्छामि सारात्सारतरं महत् ।
किमस्ति गुह्यं यल्लोके, कस्मैचिन्न प्रकाशितम् ।।५।।
तद्वदस्व महादेव यस्मात् सिद्धिर्भवेन्मनोः ।
तंत्राणां सारभूतश्च मंत्राणामपि सिद्धिदम् ।
देवता प्रीतिदं किञ्चित् कथयस्व जगद्गुरो ।।६।।

वाले परमेश्वर और महेश्वर हैं ।।२।। हे महादेव ! हे महेश्वर ! आपके अनुग्रह से मैंने गुप्त से भी गुप्त देवताओं के स्तोत्र और कवच सुने हैं ।।३।। हे देव ! जिन गुप्त सहस्रनाम स्तोत्रों को आपने किसी पर भी प्रकाशित नहीं किया, उन सबको भी आपने कृपा करके मुझे भली प्रकार सुनाया ।।४।। अब मैं वह सुनना चाहती हूँ जो सार का भी सार है। वह महागुप्त (सार) क्या है जिसे आपने इस लोक में किसी पर भी प्रकाशित नहीं किया ? ।।५।। हे जगद्गुरो महादेव ! जिसके द्वारा मनुष्य को सिद्धिलाभ हो, जो समस्त तंत्रों का सारभूत, मंत्रों की सिद्धि देने वाला और देवताओं को प्रसन्न करने वाला हो, उस अनिर्वचनीय महागुप्त तंत्र या प्रकरण को आप (कृपा कर) मुझ से कहिये ।।६।।

श्री शिव उवाच—

धन्यासि पार्वति त्वं हि सफलं जीवितं तव ।
सारात्सारतरं यन्मां पृच्छसि त्वं वरानने ।।७।।

श्रृणु देवि महत्सारं सद्यः सर्वफलप्रदम् ।
यस्य विज्ञानमात्रेण सिद्धमन्त्रो भवेन्नरः ॥८॥
तवो परोधाद्देवेशि गुरुतंत्रं सुदुर्लभम् ।
तंत्राणां सारभूतं यत् कथयामि महेश्वरि ॥९॥
पठनाद्धारणाद्यस्य दिव्यज्ञानं प्रजायते ।
एतत्तन्त्रं सदा गोप्यं मंत्रसिद्धिप्रदायकम् ॥१०॥
तत्रादौ श्रीगुरोर्ध्यानं वक्ष्ये मुक्तिप्रदायकम् ।
धर्मकामार्थदं नित्यं पूजितं वाञ्छितप्रदम् ।
गुरुभक्तिप्रदं देवि मम वक्त्राद्विनिर्गतम् ॥११॥
ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय बद्धपद्मासनः सुधीः ।
शिरस्थाधः सहस्रारे पद्मे निजगुरुं स्मरेत् ॥१२॥

श्री गुरु ध्यानम्—

शुद्धस्फटिक संकाशं शुद्धक्षौम विराजितम् ।
गन्धानुलेपनं शान्तं वराभयकराम्बुजम् ॥१३॥

श्री शिव बोले—हे वरानने पार्वती ! तुम धन्य हो, तुम्हारा ही जीवन सार्थक है क्योंकि आज तुम सार के भी सूक्ष्म सार को पूछ रही हो ॥ ७ ॥ हे देवि ! उस महासार प्रकरण को सुनो जो तुरन्त ही फल देने वाला है। जिसके जानने मात्र से मनुष्य सिद्धमन्त्र हो जाता है ॥ ८ ॥ हे देवेशि महेश्वरी ! तुम्हारे अनुरोध से मैं अत्यन्त दुर्लभ गुरुतंत्र, जो समस्त तंत्रों का

सारभूत है, वह कहता हूँ ॥ ६ ॥ इसके पाठ करने अथवा धारण करने से दिव्य ज्ञान उत्पन्न होता है। मन्त्र-सिद्धि-दायक यह तंत्र सब प्रकार से गोपनीय है ॥ १० ॥ हे देवि ! पहले मैं धर्म, अर्थ, काम और मोक्षदायक, नित्य पूज्य, वाञ्छित फलदायक, गुरु-भक्ति प्रदान करने वाला तथा अपने मुख से निकला हुआ श्री गुरुजी का ध्यान कहूंगा ॥ ११ ॥ बुद्धिमान् मनुष्य [1]ब्राह्म मुहूर्त में उठकर (नित्य कर्म से निवृत्त हो) पद्मासन[2] बाँध शिर-स्थित अधोमुख सहस्रदल पद्म में अपने गुरु

---

[1]रात्रि दो मुहर्त शेष रहने पर प्रथम मुहूर्त को ब्राह्म मुहूर्त कहते हैं। रात्रि मान के पन्द्रह भाग करने पर एक-एक भाग एक-एक मुहूर्त कहलाता है।

[2]पद्मासन बद्ध और मुक्त भेद से दो प्रकार का है। वाम जंघा पर दक्षिण तथा दक्षिण जंघा पर वाम चरण रख पीठ की ओर घुमा कर दक्षिण हाथ से दक्षिण तथा वाम हाथ से वाम पैर का अंगूठा जोर से पकड़ छाती में ठोड़ी अड़ाकर नासिका की नोक पर दृष्टि लगाने से पद्मासन गंठता है। इसे बद्ध पद्मासन कहते हैं। केवल वाम जंघा पर दक्षिण और दक्षिण जंघा पर वाम चरण रख दोनों चरणों पर दोनों हाथों का तालु लगाने से मुक्त पद्मासन बनता है। शिवसंहिता के मतानुसार दक्षिण जंघा पर वाम और साम जंघा पर दक्षिण पैर स्थापित करके दोनों हाथ चित्त कर जंघाओं के मध्य में स्थापित करे। फिर नासिका के अग्रभाग में दृष्टि जमावे और दातों की जड़ में जिह्वा अड़ा कर चिबुक तथा वक्षःस्थल को उठा धीरे-धीरे नाक से वायु खींच कर पेट में भरने और फिर धीरे-धीरे वायु को नाक से ही निकालने

का ध्यान करे ॥ १२ ॥ श्री गुरु ध्यान—श्री गुरु जी[3] के शरीर की आभा निर्मल स्फटिक तुल्य, शुद्ध रेशमी वस्त्रधारी, सर्वाङ्ग में सुगन्धित द्रव्य लेपन किये, शान्त रूप और (उनके दो)

पर पद्मासन सजता है। इससे सब प्रकार की व्याधियाँ दूर हो जाती हैं। यथा—

उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरु संस्थौ प्रयत्नतः।
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा तु तादृशौ ॥
नासोऽग्रे विन्यसेद् दृष्टिं दंतमूलं च जिह्वया।
उत्तोल्य चिबुकं वक्ष उत्थाप्य पवनं शनैः ॥
यथाशक्त्या समाकृष्य पूरयेदुदुरं शनैः।
यथाशक्त्येव पश्चात्तु रेचयेदविरोधतः ॥

[3]गुरु के सम्बन्ध में योगिनी तंत्र के प्रथम पटल में लिखा है कि—

आदिनाथो महादेवि महाकालो हि यः स्मृतः।
गुरुः स एव देवेशि सर्वमन्त्रेऽधुना परः ॥ ४२ ॥
शैवे शाक्ते वैष्णवे च गाणपत्ये तथैन्दवे।
महाशैवे च सौरे च स गुरुर्नात्र संशयः।
मन्त्रवक्ता स एव स्यान्नापरः परमेश्वरि ॥ ४३ ॥
मन्त्रप्रदानकाले हि मानुषो नगनन्दिनि।
अधिष्ठानं भवेत्तस्य महाकालस्य शाङ्करि।
देवि ह्यमानुषी चेयं गुरुता नात्र संशयः ॥ ४४ ॥
मंत्रदाता शिरःपद्मे यद्ध्यानं कुरुते गुरुः।
तद्ध्यानं कुरुते देवि शिष्योयं शीर्षपङ्कजे ॥ ४५ ॥
अतएव महेशानि एक एव गुरुः स्मृतः।
अधिष्ठानं भवेत्तस्यामानुषस्य महेश्वरि।
माहात्म्यं कीर्तितं तस्य सर्वशास्त्रेषु शाङ्करि ॥ ४६ ॥

करकमल (शिष्य के लिये) वर और अभय मुद्रा[4] से युक्त हैं ॥१३॥

मन्दस्मितं निजगुरुं कारुण्येनावलोकितम् ।
वामोरुशक्तिसंयुक्तं शुक्लाभरणभूषितम् ॥१४

(भगवती के पूछने पर महादेव जी ने कहा कि–) हे महादेवि ! जो आदिनाथ महाकाल हैं वही सब मन्त्रों के गुरु हैं। शैव, शाक्त, वैष्णव, गाणपत्य, ऐन्दव, महाशैव और सौरादि मन्त्रों के वही गुरु हैं। इसमें सन्देह नहीं क्योंकि (इन सब में) वही मंत्रवक्ता हैं। दूसरा मन्त्र-वक्ता कोई नहीं है। मन्त्र देने के समय उस मनुष्य रूप गुरु में उन्हीं महाकाल का वास होता है, इसमें सन्देह नहीं; इस कारण (मन्त्र देने का वह) गुरु कर्म अमानुषी होता है ॥ ४४ ॥ हे देवि ! मन्त्रदाता गुरु शिरोरूपपद्म में जिस प्रकार (शिव गुरु) का ध्यान करते हैं वही (शिव गुरु का) ध्यान शिष्य भी अपने शीर्ष कमल में करता है, इसलिये एक मात्र शंकर ही सबके गुरु हैं। शिष्य को मन्त्र देने के समय जिन अमानुष (भगवान् शंकर) का अधिष्ठान होता है, उन गुरु का माहात्म्य सब शास्त्रों से वर्णित है ॥ ४६ ॥ यहाँ भी अपने गुरु के रुप में भगवान् शंकर का ही ध्यान किया गया है और उनकी चार भुजाओं की कल्पना की गई है। उनका एक दक्षिण हस्त वरमुद्रा से युक्त है और एक वाम हस्त अभय मुद्रा से युक्त है।

[4]लिङ्ग, योनि, त्रिशुल, माला, वर, अभय, मृग, खट्वाङ्ग, कपाल और डमरू––ये दस मुद्राएँ शिव जी के लिये प्रीतिकर हैं।

वरमुद्रा—दायें हाथ की अंगुलियों को फैलाकर हाथ को अधोमुख रखने से वरमुद्रा बनती है। अभयमुद्रा—बायें हाथ की अंगुलियों को फैलाकर अधोमुख रखने से अभयमुद्रा बनती है।

स्वशक्त्या दक्षहस्तेन धृतचारुकलेवरम् ।
वामेनोत्पल धारिण्या सुरक्तया सुशोभितम् ॥१५॥
परानन्दरसोल्लासलोचनद्वयपङ्कजम् ।
एवं ध्यात्वा ततः शिष्य उपचारैश्च मानसैः ॥१६॥

अपने गुरु मन्द मुस्कान द्वारा (शिष्य) को करुणा पूर्वक देख रहे हैं। उनकी बाईं जंघा शक्ति रूप पार्वती से युक्त है जो श्वेत आभूषणों से भूषित हैं॥ १४॥ श्री गुरु रूप भगवान् शंकर सीधे हाथ में अपनी शक्ति रूप त्रिशूल धारण किये हुए हैं और उनका सुन्दर शोभायमान शरीर है। वे बायें हाथ में कमल धारण किये हुए हैं जो सुन्दर रक्त वर्ण से सुशोभित है ॥ १५॥ उनके दोनों कमल नेत्र परम आनन्द के रस से उल्लासपूर्ण हैं। इस प्रकार का ध्यान करके शिष्य [1]मानसोपचार से ॥ १६॥

---

[1]मानसोपचार—ॐ लं पृथ्वात्मकं गन्धं समर्पयामि नमः। ॐ हं आकाशात्मकं पुष्पं समर्पयामि नमः। ॐ यं वायवात्मकं धूपं समर्पयामि नमः। ॐ रं वह्न्यात्मकं दीपं समर्पयामि नमः। ॐ वं अमृतात्मकं नैवेद्यं समर्पयामि नमः। ॐ ऐं सर्वात्मकं ताम्बूलं समर्पयामि नमः। ॐ सं समानात्मकं सर्वोपचारम् समर्पयामि नमः। ॐ यं रं लं वं हं पञ्चतत्वात्मकं मन्त्र पुष्पांजलि समर्पयामि नमः।

इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम् ।
दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते परम् ॥

—शिवसंहिता, तृतीय पटल।

मन्त्रमार्ग में गुरु ध्यान के समय मुक्त पद्मासन से बैठना ही उचित है।

आराध्य वाग्भवं देवि सहस्रं प्रजपेन्मनुम् ।
ततः कुलगुरुं ध्यायेत् शिष्यः सद्भक्तिसंयुतः ॥ १७
मूलादि ब्रह्मरन्ध्रान्तं कुलं ध्यात्वा गुरुं स्मरेत् ।
प्रह्लादानन्दनाथाख्यं सकलानन्दमेव च ॥ १८
कुमारानन्दनाथञ्च वशिष्ठानन्दनाथकम् ।
क्रोधानन्द सुखानन्दौ ज्ञानानन्दं ततः परम् ॥ १९
वोधानन्दमथाभ्यर्च्य ध्यायेत् कुलमुखोपरि ।
महारस रसोल्लासहृदयाघूर्णलोचनाः ॥ २०
कुलालिङ्गनसम्भिन्नचूर्णिताशेषतामसाः ।
कुलशिष्यैः परिवृताः पूर्णान्तिःकरणोद्यताः ॥ २१
वराभय युता शेषकुलतन्त्रार्थ वादिनः ।
एवं कुल गुरुं ध्यात्वा महासिद्धीश्वरो भवेत् ॥ २२

उनकी आराधना करे। फिर, हे देवि ! वाग्भव बीज (ऐं) मन्त्र का एक सहस्र जप करे। पश्चात् शिष्य को श्रद्धा-भक्ति पूर्वक कुलगुरुगणों का ध्यान करना चाहिये ॥ १७ ॥ (प्रथम) मूलाधार[1] से ब्रह्मरन्ध्र[2] तक कुल अर्थात् कुण्डलिनी[3] शक्ति का

---

(१) मनुष्य शरीर के मेरु दंड (रीढ़ की हड्डी) के अन्दर ब्रह्मनाड़ी में पिरोये हुए छै कमल हैं जो षट्चक्र कहलाते हैं। मूलाधार[1] चक्र– मेरुदंड के नीचे के नुकीले भाग के आस-पास जो कन्द भाग है, उससे लगे हुए गुदा और लिङ्ग के मध्य भाग में मूलाधार चक्र है। स्वाधिष्ठान[2] चक्र–मेरुदंड में लिङ्ग स्थान के सामने है। मणिपूरकचक्र[3]

ध्यान करके (निम्नलिखित) कुल गुरुजनों[1] का स्मरण करे। प्रह्लादानन्दनाथ, सकलानन्दनाथ, कुमारानन्दनाथ, वशिष्ठानंद-नाथ, क्रोधानन्दनाथ, सुखानन्दनाथ, ज्ञानानन्दनाथ और बोधानन्दनाथ, इनकी (मानसोपचार से) पूजा करके कुंडलिनी के मुख के ऊपर (ब्रह्मरन्ध्र में) इनका (इस प्रकार) ध्यान करे कि—॥१८॥ ॥१९॥ ॥२०॥ उनका हृदय महारस (जम्बुफल)[5]

यह चक्र मेरुदण्ड में नाभि प्रदेश के सामने है। अनाहतचक्र[4]—यह चक्र मेरुदण्ड में हृदय प्रदेश के सामने है। विशुद्धचक्र[5]–यह चक्र कंठ प्रदेश में है। [6]अज्ञाचक्र यह चक्र मेरुदण्ड के भीतर भ्रूमध्य के सामने है। इन छै चक्रों के बाद मेरुदण्ड के ऊपरी सिरे पर उलटा सहस्रदल वाला 'सहस्रार चक्र' है जहाँ परम शिव विराजमान् रहते हैं।

(२) ब्रह्मरन्ध्र—ब्रह्मतालु या मस्तक के मध्य वह गुप्त छिद्र जिससे होकर प्राण निकलने से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। योगियों के प्राण इसी रन्ध्र से निकलते हैं।

(३) कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान—ध्यायेत् कुण्डलिनी सूक्ष्मां मूलाधारनिवासिनीम्। तामिष्ट देवता रूपां सार्ध त्रिबलयान्विताम् ॥१॥ कोटि सौदामिनी भासां स्वयम्भूलिङ्ग वेष्टिनीम्। तामुत्थाप्य महादेवी प्राणमन्त्रेण साधकः ॥२॥ उद्यद्दिनकरोद्योतां यावच्छ्वासं दृढ़ासनः। अशेषाशुभशान्त्यर्थं समाहितमनाश्चिरम् ॥ ३ ॥ तत् प्रभा-पटलव्याप्तं शरीरमपि चिन्तयेत् ॥ ४ ॥ अर्थात् कुण्डलिनी सूक्ष्मा, मूलाधार निवासिनी, इष्टदेवतारूपिणी, साढ़े तीन बार वेष्टिता, कोटि विद्युत की भाँति उज्ज्वल कान्ति विशिष्टा, स्वयम्भू लिङ्ग की वेष्टन-

के रस (का सेवन करने) से उल्लासपूर्ण है, उनके नेत्र घूम रहे हैं। कुल (कुण्डलिनी) का संसर्ग होने से जिनके हृदय का

कारिणी और उदयोन्मुख सूर्यसदृश प्रभा सम्पन्ना कुंडलिनी का ध्यान करके प्राण मन्त्र द्वारा उत्थापित करना चाहिये। फिर यावतीय अशुभशान्ति के लिये समाहित मन एवं दृढ़ भाव से बैठ कर जितने क्षण श्वासरोध किया जा सके उतने क्षण पर्यन्त उसकी चिन्ता की जाती है। अपने शरीर में भी इसी प्रकार चिन्ता करनी पड़ती है कि वह अपने प्रभा समूह द्वारा उसमें व्याप्त है। (तंत्रसार)

सम्मोहन तंत्र में लिखा है कि— त्रिकोणं तत्तु विज्ञेयं शक्तिपीठं मनोहरम् । तद्गह्वरे कामवायुर्जीवरूपोऽति चञ्चलः ॥ १ ॥ अधोमुखस्तत्रलिङ्गः स्वयम्भूस्तेन चाल्यते । नीवारशुकवत्तन्वी कुंडली पर देवता ॥ २ ॥ शङ्खतुल्यनिभा देवी सार्धत्रिवलयान्विता । मुखेनाच्छाद्य ब्रह्मास्यं तया संवेष्टितः प्रभुः ॥३॥ डाकिनी ह्यत्र वसति द्वारपाली सयष्टिका । यः साधकोऽत्र रमते स दिव्यो नैव मानुषः ॥ ४ ॥ अर्थात् मनोहर शक्तिपीठ त्रिकोणाकार है, उसके गह्वर में जीव रूपी अति चंचल कामवायु अवस्थित है उसमें अधोमुख लिंग रूपी स्वयंभू अवस्थान करते हैं। उन स्वयंभू कर्तृक नीवार धान्य के अग्रभाग की भांति सूक्ष्म, शंखवर्ण और साढ़े तीन वलय युक्त श्रेष्ठ देवता कुंडली चालित होती है। वह अपने मुख द्वारा ब्रह्ममुख को आच्छादन कर प्रभु को लपेटे हुए है। वहीं यष्टिहस्त पर द्वारपाली डाकिनी रहती है। जो साधक उक्त स्थान पर अधिकार कर सकता है, वह मनुष्य नहीं, देवता है।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य के शरीर में इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा ये तीन प्रधान नाणियाँ हैं। इडा नाणी मेरुदण्ड के बाहर बाईं ओर से और पिंगला दाहिनी ओर से लिपटी हुई है। सुषुम्णा नाड़ी मेरुदण्ड के अन्दर कन्द भाग से प्रारम्भ होकर सहस्त्र दल कमल तक जाती है।

अन्धकार भाव नष्ट हो गया है, ऐसे कुल शिष्यों से वे घिरे हुए हैं, उनका अन्तःकरण (देवोपासना में) पूर्ण रूप से प्रवृत्त है ॥ २१ ॥ वे वर तथा अभयदाता और समस्त कुलतंत्रों की

सुषुम्णा नाड़ी में कदली स्तम्भ के समान कई परत हैं जिनमें क्रमशः बज्रा, चित्रिणी और ब्रह्मनाड़ी हैं। योगक्रिया द्वारा जाग्रत कुण्डलिनी शक्ति इसी ब्रह्मनाणी के द्वारा कपाल में स्थित ब्रह्मरन्ध्र (शिखा स्थान) तक जाकर पुनः लौट आती है।

नोट—षट्चक्र निरूपण में उक्त विषय विस्तार से लिखा जायगा। 'षट्चक्र निरूपण' विद्यावारिधि ग्रन्थमाला-हरिद्वार से शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

(४) कुलगुरु तीन प्रकार के हैं—दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ। ऊपर के कुलगुरु सिद्धौघ हैं। दिव्यौघ में भगवान् शंकर का ध्यान पहले आ चुका है। मानवौघ में दीक्षागुरु हैं, जिनका ध्यान भगवान् शंकर के रूप में ही किया गया है। गुरुजनों को कुलगुरु नाम देने का कारण निम्न प्रकार से है—

अकुलं शिव इत्युक्तः कुलं शक्तिः प्रकीर्तिता ।
कुलाकुलानुसन्धानात् निपुणः कौलिकाः प्रिये ॥

अर्थात् अकुल शिव हैं और कुल शक्ति कहलाती है। जो अकुल और कुल (शिव-शक्ति) के साधन में निपुण हैं, वही कौलिक कहलाते हैं। इस प्रकार जो कौलिक हैं, वही कुलगुरु नाम से प्रसिद्ध हैं।

—गुप्तसाधन तंत्र

(५) जम्बुफल रस—महाभारत में लिखा है कि नीलगिरि के दक्षिण और निषध पर्वत के उत्तर ओर सुदर्शन नाम का, सब इच्छाओं के अनुसार फल देने वाला एक जम्बु (जामुन) का वृक्ष है। यह वृक्ष

व्याख्या करने वाले हैं। इस प्रकार कुल गुरुओं का ध्यान करने से मनुष्य महासिद्धि का अधिकारी होता है॥२२॥

रहस्यमद्भुतं प्रोक्तं गोप्तव्यं पशुसंकटे ।
कुलनाथं परित्यज्य ये शाक्ताः कुलसेविनः ॥२३॥
तेषां दीक्षा च यागश्च अभिचाराय कल्पते।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन कुलीनं गुरुमाश्रयेत् ॥२४॥

मैंने यह अद्भुत रहस्य तुम से कहा है, पश्वाचारी[1] से इस रहस्य को गुप्त रखना चाहिये। जो शाक्त कुलनाथ को छोड़कर

सदा बना रहता है। इसी वृक्ष के कारण सुदर्शन द्वीप का दूसरा नाम जम्बू द्वीप भी है। इस जम्बु वृक्ष के आस-पास सिद्ध और चारण रहते हैं। यह वृक्ष सौ हजार योजन ऊँचा है। इस वृक्ष के फलों का विस्तार दो हज़ार पाँच सौ अरत्नि (एक अरत्नि = मुट्ठी से कुछ कम होती है।) इसी कारण उन फलों के गिरते समय बड़ा शब्द होता है। फलों में केवल रस ही होता है। वह सुवर्ण के रंग का रस फलों से निकल कर नदी के रूप में बहता है। वह नदी सुमेरु की प्रदक्षिणा करती हुई उत्तर कुरु प्रदेश में बहती है। उन फलों का रस पीने से जम्बूद्वीप-निवासियों के मन में शान्ति रहती है, उन्हें प्यास नहीं लगती और वे कभी वृद्ध भी नहीं होते। उस रस के संसर्ग से नदी किनारे की मिट्टी, बीरबहूटी के रंग का जाम्बुनद सुवर्ण बन जाती है। देवता और उनकी स्त्रियां उसी दिव्य सुवर्ण के आभूषण पहनती हैं। वहाँ के मनुष्य जन्मकाल से ही मध्याह्न के सूर्य के समान तेजस्वी होते हैं। (भीष्मपर्व, अ० ७)।

[1]पश्वाचारी—भाव तीन प्रकार का है,—दिव्य, वीर और पशु। इन तीनों भावों में दिव्य भाव उत्तम, वीर भाव मध्यम और पशुभाव

(अर्थात् कौल से दीक्षा लिये बिना ही) कुल द्रव्य (मत्स्य, माँस, मदिरा, मुद्रा, मैथुन) का सेवन करता है ॥२३॥ उसकी दीक्षा और यज्ञ अभिचार (मारणादि) के रूप में परिणत हो

अधम माना गया है । जो व्यक्ति इस तीन प्रकार के भाव का अवलम्बन करते हैं उनके गुरु, मंत्र और देवता प्रथक्-प्रथक् रूप में निर्णीत हैं। पशुभाव में शक्तिसाधनाकारी पश्वाचारी कहलाते हैं। कुंजिका तंत्र में लिखा है कि पशुभाव में आराधना करने वाले पशु की तरह ही होते हैं। जो रात्रि में यन्त्र स्पर्श वा मंत्र का जप नहीं करते, उनके बलिदान में संशय, तन्त्र में सन्देह, मन्त्र में अक्षर बुद्धि, गुरु में अविश्वास, प्रतिमा में शिलाज्ञान और देवसमूह में भेद बुद्धि रहती है, जो निरामिष से देवता की पूजा, अज्ञानवश निरंतर स्नान और सबकी निन्दा करते हैं, वे ही पशुभावालम्बी अधम कहलाते हैं।

पश्वाचारी के लिये रात्रि, मध्याह्न अथवा संध्या को देवी पूजन करना कर्तव्य नहीं है। ऋतुकाल में स्त्रीगमन, पर्व-पंचक में मांसादि का त्याग और इसके अतिरिक्त वेद में जिन सब का विधान है, उन्हीं सबका अनुष्ठान करना उनका कर्तव्य है। पशुभाव में मंत्र केवल अक्षर रूप ही होते हैं अर्थात् उनके मंत्र में तीक्ष्णता नहीं होती। (नित्यातंत्र)

रुद्रयामल के द्वितीय पटल में लिखा है कि पश्वाचारी यदि नित्य श्राद्ध, संध्या, पूजा, पितृतर्पण, देवतादर्शन, पीठदर्शन, गुरु का आज्ञा पालन और देवताओं का पूजन करें तो सिद्धि लाभ कर सकते हैं। आचारभेदतंत्र में लिखा है कि—वेदोक्तेन यजेद्देवीं कामसंकल्प पूर्वकम्। स एव वैदिका चारः पश्वाचारः स उच्यते॥ अर्थात् कामना और संकल्प पूर्वक वेदोक्त विधान से जो देवी की पूजा की जाती है वही वैदिकाचार है इस वैदिकाचार को पश्वाचार कहते हैं।

पशुभाव या पश्वाचार और वीरभाव या वीराचार में यह प्रधान

जाते हैं। इसलिये सब प्रकार से प्रयत्न करके कुलीन[2] (कौल) गुरु का ही आश्रय लेना चाहिये ॥२४॥

भेद है कि वीराचार में मद्य मांस का व्यवहार होता है और पश्वाचार में वह निषिद्ध है।

कुलार्णव तंत्र में दिव्याचार और वीराचार के सात विभाग किये गये हैं। यथा (१) वेदचार (इस शब्द से यहाँ वैदिक कर्म का अनुष्ठान नहीं समझना चाहिये। तंत्र के अनुसार आचार विशेष का नाम वेदाचार है) वेदाचार से (२) वैष्णवाचार उत्तम है। वैष्णवाचार से (३) शैवाचार उत्तम है। शैवाचार से (४) दक्षिणाचार उत्तम है। दक्षिणाचार से (५) वामाचार उत्तम है। वामाचार से (६) सिद्धान्ताचार उत्तम है और सिद्धान्ताचार से (७) कौलाचार और भी उत्तम है। कौलाचार के ऊपर और कुछ नहीं है।

(२) कौलाचारी—ब्रह्मवेत्ता योगी होता है। इसीकारण कौलाचार का कोई नियम नहीं है। इसमें स्थानास्थान, कालाकाल और कर्माकर्म का कुछ विचार नहीं किया जाता। महामंत्रसाधन में दिशा, काल, तिथि और नक्षत्र आदि का भी नियम नहीं है। कहीं शिष्ट, कहीं भ्रष्ट और कहीं भूत-पिशाच तुल्य, इस प्रकार नाना वेशधारी कौलगण पृथ्वी पर विचरण करते हैं। कीचड़ और चन्दन में, पुत्र और शत्रु में, स्मशान और गृह में तथा सुवर्ण और तृण में जो भेद नहीं समझता वही व्यक्ति कौल कहलाता है।

श्यामारहस्य में लिखा है कि जो भीतर से शाक्त, बाहर से शैव और सभा के मध्य वैष्णव हैं, ऐसे नाना वेशधारी कौलगण पृथ्वी पर विचरण करते हैं। यथा—अन्तःशाक्ता बहिः शैवाः सभायां वैष्णवा मताः। नानारूपधराः कौला विचरन्ति महीतले ॥ इस प्रकार एक कौल ही दीक्षा गुरु होने के योग्य है।

कुलीनः सर्वमन्त्राणामधिकारीति गीयते ।
दीक्षागुरुः स एव स्यात् सर्वमन्त्रस्य पारगः ॥२५॥
गुरवो बहवः सन्ति शिष्यवित्ताप हारकाः ।
एकः श्रेष्ठो भवेत्तेषां भुक्तिमुक्ति प्रवर्त्तकः ॥२६॥

कुलीन[2] (कौल) पुरुष ही समस्त मंत्रों का अधिकारी कहा गया है, वही समस्त मंत्रों का ज्ञाता, दीक्षागुरु के नाम से प्रसिद्ध है ॥२५॥ शिष्य के धन को हरण करने वाले बहुत से गुरु हैं, किन्तु उनमें जो भोग और मुक्ति का देने वाला है वह (गुरु) एक (कौल) ही श्रेष्ठ है ॥२६॥

एक एव गुरुर्देवि सर्वत्र परिगीयते ।
भेदोऽस्य च न कर्तव्यः सर्वं गुरुमयं जगत् ॥२७॥
श्री गुरोर्लक्षणं वक्ष्ये शृणु देवि त्रिलोचने ।
गुरुरेकः शिवः प्रोक्तः सोऽहं देवि न संशयः ॥२८॥
गुरुस्त्वमसि देवेशि मंत्रोऽपि गुरुरुच्यते ।
अतो मंत्रे गुरौ देवे न भेदश्च प्रजायते ॥२९॥
कदाचित्तु सहस्रारपद्मे ध्येयो गुरुः सदा ।
कदाचिद्धृदयाम्भोजे कदाचिदृष्टि गोचरे ॥३०॥

कुलीन[2]—कुलःशक्तिः समाख्याता अकुला शिव उच्यते ।
तस्य लीनोभवेद् यस्तु सकुलीनः प्रकीर्तितः ॥

अर्थात् कुल नाम कुण्डलिनी शक्ति का है और अकुल शिव कहलाते हैं। जो शिव और शक्ति (के संयोग) में लीन रहते हैं वे योगी कुलीन कहलाते हैं। —गुप्तसाधनतंत्र

(यद्यपि) हे देवि ! एक (मात्र शिव) ही (सबके) गुरु हैं (तथापि अधिष्ठान भेद से) वे (अनेक रूपों में) सर्वत्र विद्यमान रहते हैं। इसलिये (शिव और) गुरु में भेद मानना कर्तव्य नहीं है। सब जगत् ही गुरुमय है (ऐसा समझना चाहिये) ॥२७॥ हे त्रिनयने देवि! (अब) मैं गुरु के लक्षण वर्णन करता हूँ, श्रवण करो। एक मात्र शिव ही (सबके) गुरु हैं और वह (गुरु) मैं ही हूँ, इसमें सन्देह नहीं ॥२८॥ हे देवेशि ! तुम और मंत्र (यह दोनों) भी गुरु कहे गये हैं। इसलिये मंत्र, देवता और गुरु में कुछ भी भेद नहीं है ॥२९॥ कभी (चिन्तवन के समय) सदैव सहस्रदल पद्म में गुरु का ध्यान करे। कभी (पूजा के समय) हृदयपद्म[1] में और कभी (गुरु के सन्मुख होने पर) दृष्टिमार्ग में गुरु का ध्यान करे ॥३०॥

---

[1]मनुष्य के शरीर में हृदयपद्म आदि छै पद्म हैं जो षट्चक्र कहलाते हैं। इनका वर्णन श्लोक संख्या १८ की टिप्पणी नं० १ में किया जा चुका है। क्रम से मूलाधार चक्र का कमल रक्त वर्ण है और उसके चार दल हैं, जिन पर वँ-शँ-षँ-सँ लिखा हुआ है। इसका यंत्र पृथ्वी तत्व का द्योतक है और चतुष्कोण है। यंत्र का रंग पीत है, बीज लँ है और बीज का वाहन ऐरावत हाथी है। यंत्र के देवता ब्रह्मा और शक्ति डाकिनी है। यंत्र के मध्य में स्वयम्भू लिङ्ग है। (२) स्वाधिष्ठान चक्र—इसका कमल सिन्दूर के रंग वाले छै दलों का है। इन दलों पर बँ-भँ-मँ-यँ-रँ-लँ लिखा हुआ है। इसका यंत्र जल तत्व का द्योतक है और अर्धचन्द्राकार है। यंत्र का रंग चन्द्रमा के समान श्वेत है। बीज वँ है और उसका वाहन मकर है। यंत्र के देवता विष्णु और

गुरुरित्यक्षरं देवि जिह्वाग्रे यस्य वर्तते ।
तस्य किं विद्यते मोहात् पाठे वेदस्य किं वृथा ।।३१।।
गकारोच्चारमात्रेण ब्रह्महत्या विनश्यति ।
उकारोच्चारतोदेवि मुच्यते जन्मपातकात् ।।३२।।

शक्ति राकिनी है। (३) मणिपूरक चक्र—इसका कमल नील वर्ण वाले दस दलों का है, दलों पर डँ-ढँ-णँ-तँ-थँ-दँ-धँ-नँ-पँ-फँ लिखा हुआ है। इस चक्र का यंत्र त्रिकोण है और अग्नि तत्व का द्योतक है। इसके तीनों ओर द्वार के समान तीन स्वस्तिक हैं। यंत्र का रंग बालसूर्य के समान है। बीज रँ है और बीज का वाहन मेष है। यंत्र के देवता वृद्ध रुद्र और शक्ति लाकिनी है।

(४) अनाहत चक्र—हृदय प्रदेश के सामने वाला यह चक्र अरुण वर्ण वाले बारह दलों से युक्त कमल का बना है। दलों पर कँ-खँ-गँ-घँ-ङँ-चँ-छँ-जँ-झँ-ञँ-टँ-ठँ लिखा है। चक्र का यंत्र षट्कोण, धूम्रवर्ण तथा वायुतत्व का द्योतक है। इसके यंत्र का बीज यँ है और बीज का वाहन मृग है। यंत्र के देवता ईशान रुद्र तथा देवशक्ति काकिनी है। इस चक्र के मध्य में शक्तित्रिकोण है जिसमें विद्युत जैसा प्रकाश रहता है। इस त्रिकोण से सम्बद्ध बाण नामक स्वर्णकान्तिमय शिवलिङ्ग है जिसके ऊपर एक छिद्र है। इस छिद्र से लगा हुआ अष्टदल वाला हृत्पुण्डरीक नामक कमल है। इसी हृत्पुण्डरीक कमल में उपास्यदेव का ध्यान किया जाता है।

(५) विशुद्ध चक्र—इसका कमल धूम्रवर्ण वाले सोलह दलों का है और इन दलों पर अँ से अः तक सोलह स्वर लिखे हुए हैं। इस चक्र का यंत्र पूर्ण चन्द्राकार है और वह पूर्णचन्द्र की ज्योति से प्रकाशमान है। यह यंत्र आकाश तत्व का सूचक है। इसका बीज हँ है और बीज

रेफोच्चारणमात्रेण उकारोच्चारणात्पुनः ।
विसर्गोच्चारणात् कोटिजन्मगं पातकं हरेत् ॥३३॥
गुरुरित्यक्षरं देवि जपतो मम निश्चितम् ।
ब्रह्महत्या पुरा प्रोक्ता विनश्यति न संशयः ॥३४॥

हे देवि ! जिसकी जिह्वा से 'गुरु' ये अक्षर उच्चारित होते हैं, उसे और मोह के वश होकर वृथा वेदपाठ करने की क्या

का वाहन हाथी है। यंत्र के देवता पंचवक्त्र सदाशिव और देवशक्ति शाकिनी है।

(६) आज्ञा चक्र—इसका कमल श्वेत वर्ण वाले दो दलों का है। इन दलों पर हँ-क्षँ लिखा हुआ है। चक्र का यंत्र योनि के आकार का, चन्द्रमा की नाईं उज्ज्वल तथा महत् तत्व का द्योतक है। योनि के मध्य में विद्युतप्रभायुक्त 'इतर' नामक शिवलिङ्ग है। इस यंत्र का बीज प्रणव (ॐ) है, बीज का वाहन नाद है और इसके ऊपर विन्दु भी स्थित है। यंत्र के देवता ऊपर लिखित इतर लिङ्ग रूप शिव हैं और देव शक्ति हाकिनी है। इन छै चक्रों के पश्चात् जो सहस्रार चक्र है, वह एक हजार दलों से युक्त कमल का है। इन हजार दलों पर बीस-बीस बार प्रत्येक स्वर तथा व्यंजन लिखे हैं। वह सहस्रदल कमल कैलास नाम से प्रसिद्ध है। इसके मध्य में योनि-मंडल है, उसके अधोभाग में पूर्णचन्द्र है जिससे अमृत बरसता रहता है। इस पूर्णचन्द्र में परमहंस जगद्गुरु शिव विराजमान हैं। इनकी शक्ति महाशक्ति है। यह सहस्रदल पद्म शून्य का द्योतक है। यह चक्र मध्याह्न के सूर्य के समान वर्ण वाला और तेजोमय है। योगीजन इसके चन्द्रबिम्ब में जगद्गुरु शिव का ध्यान कर सिद्धि लाभ करते हैं। (विशेष विवरण के लिये 'विद्यावारिधि ग्रन्थमाला' से प्रकाशित 'षट्चक्र निरूपण' देखिये।)

आवश्यकता है ? ॥ ३१ ॥ (ग-उ-र-उ = गुरुः[1] शब्द के) गकार का उच्चारण करते ही ब्रह्महत्या का पाप नष्ट हो जाता है और उकार का उच्चारण करने से मनुष्य जन्मभर के पापों से मुक्त हो जाता है ॥ ३२ ॥ रेफ, उकार और विसर्ग, इन तीन वर्णों का उच्चारण करने से करोड़ों जन्मों के पापों का नाश होता है ॥३३॥ हे देवि! 'गुरु' इन दो अक्षरों का जप करने से मैं पहले कहे हुए ब्रह्महत्या पातक (ब्रह्मा[2] जी का मस्तक काटने के पाप) से निःसन्देह मुक्त हो गया हूँ ॥३४॥

---

[1] 'गुरु' शब्द के प्रथक्-प्रथक् अक्षरों का जो फल बताया गया है, उसका यह अभिप्राय नहीं है कि प्रथक्-प्रथक् अक्षरों का भी जप किया जा सकता है। यहाँ गुरु शब्द के अक्षरों की केवल महिमा बताई गई है, जप में 'गुरु' शब्द ही लिया जायगा। 'गुरु' शब्द की महिमा में 'गुरुगीता' में लिखा है कि—

गु शब्दस्त्वंधकारोस्ति रु शब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकार विरोधित्वाद्गुरुरित्याभि धार्यते ॥

अर्थात् 'गु' शब्द अन्धकार रूप है और 'रु' शब्द उस अन्धकार का नाश करने वाला है। अन्धकार (रूप अज्ञान) का विरोधी होने से (और ज्ञान दाता होने से) 'गुरु' ऐसा कहलाता है।

[2] सृष्टि के आदि में एक समय भगवान् विष्णु जी शेष-शय्या पर शयन किये हुए थे। उस समय ब्रह्मा जी वहाँ आये और विष्णु जी से बोले—'तुम कौन हो जो मुझे देखकर भी अभिमानी की तरह शयन कर रहे हो ? हे वत्स ! उठो, देखो, मैं तुम्हारा स्वामी और जगत् का पितामह आया हूँ।' विष्णु जी बोले—'यह जगत् मुझमें स्थित है, तुम इसे अपना कैसे कहते हो ? तुम भी मेरे नाभि-कमल से उत्पन्न हुए

परशुरामो मातृवधात् देवेन्द्रो ब्रह्महिंसनात् ।
पातकाद्यदि मुक्तोऽभूत् गुरुरुच्चारमात्रतः ।।३५।।

हो, इसलिये तुम मेरे पुत्र हो, फिर वृथा बात क्यों करते हो ?' इस प्रकार के विवाद के पश्चात् अपनी-अपनी श्रेष्ठता के लिये दोनों में युद्ध होने लगा । यह देखकर भगवान् शंकर दोनों के मध्य में अग्नि रूप से प्रकट हुए । ब्रह्मा और विष्णु जी ने इस अद्भुत स्तम्भ को देख कर इसके आदि-अन्त का पता लगाने का निश्चय किया । विष्णु जी शूकर रूप धारण कर उसके मूल भाग को देखने नीचे गये और पाताल को भी भेदकर दूर तक चले गये, किन्तु उस स्तम्भ का मूल न पा सके । अन्त में वे निराश होकर लौट आये । ब्रह्मा जी हंस का रूप धारण करके ऊपर को गये । बहुत दूर जाने पर उन्होंने केतकी का एक अद्भुत पुष्प देखा । ब्रह्मा जी बोले—'हे पुष्पपति ! तुम्हें किसने धारण किया था ?' पुष्प ने कहा—'मैं सर्वप्रथम प्रादुर्भूत हुए स्तम्भ के मध्य भाग से गिरा हूँ । इस स्तम्भ का अन्त नहीं है ।' ब्रह्मा जी बोले—'इस स्तम्भ का अन्त देखने के लिये ही में हंस रूप धारण करके आया हूँ । अब तुम मेरे साथ चलकर विष्णु जी से यह कहो कि ब्रह्मा जी ने इस स्तम्भ का अन्त पा लिया है, इसका मैं साक्षी हूँ ।' केतकी पुष्प ने विष्णु जी के पास आकर ऐसा ही कहा । तब विष्णु जी ने ब्रह्मा जी को बड़ा मानकर उनका पूजन किया । ब्रह्मा जी का कपट देखकर उस स्तम्भ से भगवान् शंकर प्रादुर्भूत हुए और खड्ग से ब्रह्मा जी का एक शिर काट कर शाप दिया कि तुमने अपनी पूजा और ईश्वर होने की इच्छा से छल किया है, इसलिये लोक में तुम्हारा पूजन आदि सत्कार न होगा और न तुम्हारा स्थान आदि ही होगा । फिर असत्यवादी केतकीपुष्प से कहा कि आज से तुम मेरे प्रेमपात्र नहीं रहे, अब तुम मेरी पूजा में नहीं आओगे । (शिवपुराण)

केवल 'गुरु' (इन अक्षरों) का उच्चारण करने से परशुराम[1] ने माता के वध के पाप से और देवताओं के स्वामी इन्द्र[2] ने ब्रह्महत्या के पाप से मुक्ति पाई थी ॥ ३५ ॥

ब्रह्मा रुद्रश्च विष्णुश्च पार्वती परमेश्वरी ।
इन्द्रादयस्तथा देवा यक्षाद्याः सिद्धदेवताः ॥३६॥

इस प्रकार ब्रह्मा जी का मस्तक काटने से शिवजी को ब्रह्महत्या लगी थी ।

[1]एक समय परशुराम जी की माता रेणुका जल लाने के लिये गंगातट पर गई थीं । वहाँ गन्धर्वराज चित्ररथ को अप्सराओं के साथ क्रीड़ा करते देखकर वे उसे देखती रहीं और उनका मन कुछ चित्ररथ में लग गया । कुछ देर पश्चात् हवन का समय बीता हुआ जानकर वे जल लेकर शीघ्रता से घर को आईं । परशुराम जी के पिता जमदग्नि ने अपने योगबल से पत्नि का मानसिक व्यभिचार जानकर क्रोधित हो अपने पुत्रों से कहा कि इस पापिनी को मार डालो, किन्तु कोई पुत्र नहीं उठा । तब उन्होंने परशुराम जी से कहा । परशुराम जी ने माता समेत अपने सब भाइयों को भी मार डाला । इस पर जमदग्नि ने प्रसन्न होकर परशुराम जी से वर माँगने को कहा। परशुराम जी ने माता तथा भाइयों के जीवित होने और उन सब को वध की बात याद न रहने का वर मांगा । तब वे सब जीवित हो गये । (भागवत ९।१६)

[2]इन्द्र को वृत्रासुर के मारने से ब्रह्महत्या लगी थी । इससे दुखित होकर वे एक हजार वर्ष तक मानसरोवर के कमलनाल में छिपे रहे थे । इसके पश्चात् श्रीहरि की आराधना से उन्होंने ब्रह्महत्या से मुक्ति पाई थी । (भागवत ६।१३)

गंगाद्याः सरितः सर्वा गन्धर्वाः सर्पजातयः ।
स्थावरा जंगमाश्चान्ये पर्वताः सर्वभौतिकाः ॥३७॥
एते चान्ये च तिष्ठन्ति नित्यं गुरुकलेवरे ।
श्रीगुरोस्तृप्तिमात्रेण तृप्तिरेषाश्च जायते ॥३८॥
न गुरोरधिकं शास्त्रं न गुरोरधिकं तपः ।
न गुरोरधिकं मंत्रं न गुरोरधिकं फलम् ॥३९॥
न गुरोरधिका देवी न गुरोरधिकः शिवः ।
न गुरोरधिका मुक्तिर्न गुरोरधिको जपः ॥४०॥

ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, परमेश्वरी पार्वती, इन्द्रादि देवगण, कुबेर आदि यक्षगण, सिद्धगण, गन्धर्वगण, गंगा आदि समस्त नदियाँ, नागगण और इसके अतिरिक्त स्थावर (अचल, वृक्ष आदि) तथा जंगम (चलने वाले) समस्त जीव, ये सब ही गुरु के शरीर में सदा रहते हैं। इस कारण श्रीगुरु के सन्तुष्ट होते ही उक्त समस्त देवगण आदि भी सन्तुष्ट हो जाते हैं ॥३६,३७,३८॥ समस्त [1]शास्त्र, [2]तपस्या, मंत्र और (इनसे प्राप्त होने वाला

---

[1]वेदशास्त्र पुराणानि कृत्वा वै गुरुकाम्यया ।
स्वयं लोके गुरुः साक्षाज्जायते चैव तत्ववित् ॥

अर्थात् वेद, शास्त्र और पुराणों का अध्ययन गुरु की कामना से ही किया जाता है। तत्व का जानने वाला व्यक्ति संसार में स्वयं साक्षात् गुरु ही हो जाता है। (गुरु गीता)

[2]यज्ञो दान तपस्तीर्थं व्रतं धर्मपरं च यत् ।
गुरु तत्वमविज्ञाय मूढ़ास्तेऽन्यपरा जनाः ॥

गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो महेश्वरः ।
देव रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ॥४१॥

स्वर्गादि) फल, देवी, शिव, मुक्ति और जप, इनमें से कोई भी गुरु से श्रेष्ठ नहीं है ॥३६,४०॥ गुरु ही [3]पिता, गुरु ही [4]माता और गुरु ही देव [5]महादेव हैं। [6]देवता के रुष्ट हो जाने पर एक

अर्थात् मूढ़ लोग गुरुतत्व को न जानकर यज्ञ, दान, तपस्या, तीर्थ, व्रत और अन्य धर्मों के परायण होते हैं। (गुरु गीता)

[3]पिता अपनी सन्तान का पालन करता है और विष्णु जी संसार के पालनकर्त्ता हैं। गुरु इसलिये पिता है कि वह अपने दिये हुए सदुपदेशों को शिष्य से पालन कराता है। [4]माता सन्तान को उत्पन्न करती है और ब्रह्मा जी संसार के उत्पन्नकर्त्ता हैं। गुरु माता इसलिये है कि वह अपने सदुपदेश से शिष्य में ज्ञान उत्पन्न करता है। [5]महादेव संसार के संहारकर्त्ता हैं। गुरु महादेव इसलिये है कि वह अपने सदुपदेश से शिष्य के कुसंस्कार नष्ट करता है।

यथा—गुरुर्ब्रह्मा गुरु विष्णु गुरु देवो महेश्वरः ।
गुरुरेव परब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः ॥

गुरु ज्ञान रूपी साक्षात् परब्रह्म है॥ (गुरुगीता)

[6]एक समय काकभुशुण्डि जी भगवान् शंकर के मन्दिर में बैठे उनके मंत्र का जप कर रहे थे, उसी समय भुशुण्डिजी के गुरु वहाँ गये। भुशुण्डि जी ने अभिमानवश उठकर उन्हें प्रणाम नहीं किया। गुरु के इस अपमान को भगवान् शंकर नहीं सह सके और उन्होंने अजगर योनि में एक हजार वर्ष तक रहने का शाप दिया। यह देख गुरु ने भगवान् शंकर की प्रार्थना करके उन्हें प्रसन्न किया। तब भगवान्

मात्र गुरु ही रक्षा करने में समर्थ है, किन्तु श्रीगुरुदेव के रुष्ट हो जाने पर कोई भी रक्षा नहीं कर सकता ॥४१॥

उत्पादक ब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता ।
तस्मान्मन्येत सततं पितुरप्यधिकं गुरुम् ॥४२॥
गुरौ मनुष्यता बुद्धिः शिष्याणां यदि जायते ।
न हि तस्य भवेत् सिद्धिः कल्पकोटिशतैरपि ॥४३॥
तस्माद्देवेशि नियतं श्रीगुरुं शिवरूपिणम् ।
संचिन्तयेदतः प्राज्ञस्ततः सिद्धिमवाप्नुयात् ॥४४॥
श्रीनाथं शिवरूपञ्च गुरुपत्नीं महेश्वरीम् ।
चिन्तयेत् सर्वदा प्राज्ञो भेदान्नरकमाप्नुयात् ॥४५॥

जन्मदाता पिता और मंत्रदाता गुरु इन (दोनों) में मंत्रदाता गुरु ही भारी है, इस कारण सदैव ही गुरु को पिता से अधिक मानना चाहिये ॥४२॥ यदि शिष्य श्रीगुरु को मनुष्य समझता है तो सौ करोड़ कल्प में भी उसको सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती ॥४३॥ इसलिये हे देवि ! ज्ञानवान् शिष्य गुरु को सदैव शिवस्वरूप ही विचारे, तब सिद्धि प्राप्त होगी ॥४४॥

शंकर ने प्रसन्न होकर भुशुण्डि जी को वरदान दिया कि तुम्हें जन्म-मरण का दुःख नहीं व्यापेगा एवं तुम्हारा ज्ञान कभी नष्ट नहीं होगा और अयोध्या में जन्म लेकर तुम श्री रामचन्द्र जी के भक्त होगे । (तुलसी-रामायण)। इस प्रकार देवता के शाप से गुरु ने अपने शिष्य का उद्धार किया।

✓ ५०

मन्त्रे वा गुरुदेवे वा न भेदं यस्तु कल्पयेत् ।
तस्य तुष्टा जगद्गौरी किं न दद्याद्दिने दिने ।।४६।।
गुरुसेवां प्रकुर्वाणो यस्तु मृत्युमवाप्नुयात् ।
स मुक्तः सर्वपापेभ्यः शिवलोकं स गच्छति ।।४७।।
अज्ञानादिह देवेशि भ्रमबुद्धिः प्रजायते ।
पामराणां मानवानां सर्वसिद्धिर्विनश्यति ।।४८।।
अज्ञानात् पामरो लोके विश्वासं न गुरौ चरेत् ।
तस्य कल्याणि मन्त्रादौ मम वाक्ये कथं रतिः ।।४९।।

ज्ञानवान् मनुष्य सदा श्रीगुरुदेव को शिवस्वरूप और गुरुपत्नि को महेश्वरीस्वरूपा समझकर ध्यान करे। गुरु को शिव से भिन्न और गुरुपत्नि को महेश्वरी से भिन्न मनुष्य रूप मानने से नरक होता है ।।४५।। मंत्र और गुरुदेव में जिसकी भेदबुद्धि नहीं है, उससे जगदम्बा सन्तुष्ट रहकर प्रति दिन क्या नहीं देतीं ? अर्थात् सब कुछ देती हैं ।।४६।। गुरुसेवा करते हुए जिसकी मृत्यु होती है, वह समस्त पापों से मुक्त होकर शिवलोक को जाता है ।।४७।। हे देवेशि ! पामर मनुष्यों को अज्ञानवश ही विपरीत बुद्धि या भेद बुद्धि उत्पन्न होती है और इससे समस्त सिद्धियों का नाश हो जाता है ।।४८।। हे कल्याणि ! इस लोक में जो पामर (नीच) अज्ञानवश होकर गुरु (के वाक्य) में विश्वास नहीं करता उसको मेरे वाक्य में और मंत्रादि में कैसे विश्वास होगा ? ।।४९।। हे देवि ! कविता आदि के पाण्डित्य के मोह से

पाण्डित्यकवितादीनां मोहाल्लोकभयान्नृणाम् ।
न विश्वासो भवेद्देवि श्रीनाथे जगदीश्वरे ॥५०॥

और लोकलाज के भय से मनुष्य जगदीश्वर स्वरूप श्रीगुरुदेव में विश्वास नहीं करता ॥५०॥

क्वचित् पाषण्डसंसर्गात् क्वचिन्मोहात् क्वचित्कुलात् ।
न विश्वासो भवेद्देवि गुरुदेवे सनातने ॥५१॥
गुरुसेवामकृत्वा तु ये भक्ताः कुलसेविनः ।
तेषां मन्त्राश्च देवाश्च प्रसीदन्ति न सर्वदा ॥५२॥

हे देवि ! कभी [1]पाखण्डधर्मियों के संसर्ग से, कभी मोह (अज्ञान) के वश और कभी अपने वंश के दोष से मनुष्य सनातन गुरुदेव में विश्वास नहीं करते ॥५१॥ जो भक्त (साधक) बिना गुरु की सेवा किये कुलद्रव्य (पंचतत्व) का सेवन करते हैं उनसे मंत्र और देवता कभी प्रसन्न नहीं होते ॥५२॥ शरीर, मन और वचन

[1]पाखण्डधर्म—त्रिपुर दैत्य को मारने के लिये विष्णु जी ने दैत्यों को मोहित करके भगवान् शंकर की उपासना छुड़वाने के लिये अपनी माया से 'अरिहन्' नामक एक महापुरुष उत्पन्न किया। उसने विष्णु जी की आज्ञा से पाखण्डधर्म का प्रचार करना प्रारम्भ किया कि—'अहिंसा ही परम धर्म है, आत्मा को पीड़ा पहुँचाना परम पाप है, किसी के आधीन न होना ही मुक्ति है और अभिलषित भोजन की प्राप्ति ही स्वर्ग है। भयभीत को अभयदान, रोगी को औषधि, विद्यार्थी को विद्या और भूखे को अन्न, यही दान मुख्य हैं, शेष सब दान व्यर्थ हैं। मणि, मन्त्र और औषधि के प्रभाव को बिना विचारे नाम और धन के

गुरोर्हितं प्रकर्त्तव्यं वाङ्मनः काय कर्मभिः ।
अहिताचरणाद्देवि विष्ठायां जायते क्रिमिः ॥५३॥
कायिकैः परिचर्यादि वाग्भिः स्तवनमेव च ।
मानसे कुशलं देवि भावयेन्नित्यदा गुरोः ॥५४॥
मन्त्रवत् पालयेनित्यं गुरुवाक्यं विशेषवित् ।
स्थाणुवत् तिष्ठते नित्यं गुरोरग्रे महेश्वरि ॥५५॥

से गुरुदेव का हितानुष्ठान करना ही कर्तव्य है। हे देवि! (गुरु के प्रति) अहिताचरण करने से शिष्य विष्ठा का कीड़ा होकर जन्म लेता है ॥५३॥ हे देवि! शिष्य शरीर द्वारा गुरु की सेवा और वचन से उनकी स्तुति करे तथा सदैव मन ही मन गुरु की कुशल चाहता रहे ॥५४॥ हे महेश्वरि! विशेष ज्ञानवान पुरुष मन्त्र सदृश गुरु के वाक्य का नित्य पालन करे और गुरुदेव के आगे (आज्ञा पालन करने के लिये) सदा स्थाणुवत् (खम्भ के समान स्थिर भाव से) खड़ा रहे ॥५५॥ चाहे सब जाति वाले

उपार्जन के लिए उसका अभ्यास करना चाहिये। धन उपार्जन करके दस इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इन बारह स्थानों का ही पूजन करना चाहिये। स्वर्ग और नरक यहीं हैं और कहीं नहीं हैं। सुख का नाम स्वर्ग और दुःख का नाम नरक है। सुख और दुःख भोगते हुए शरीर त्यागने का नाम ही परममोक्ष है। स्वर्ग की प्राप्ति के लिए अग्नि में तिल, घी आदि से हवन करना महान् मूर्खता है। प्रत्यक्ष बात में ही विश्वास करना चाहिये। यह एक मात्र देहसुख ही साधक है, आनन्द ही ब्रह्म का रूप है। शेष कल्पनायें मिथ्या हैं। जब तक यह

तिष्ठन्तु ज्ञातयः सर्वे निन्दन्तु स्वजना नराः ।
गर्जन्तु भ्रातरः सर्वे शरीरं मे विनश्यतु ॥५६॥
तथापि न परित्याज्या गुरुसेवा सुदुर्लभा ।
इति येषां चित्तमतिर्ज्ञानध्यानपरायणा ॥५७॥

ठहर जायँ अर्थात् मेरा साथ न देकर मुझे त्याग दें, स्वजन-भाई-बन्धु मेरी निन्दा करें या सब भाई मुझ पर गरजें अर्थात् तिरस्कार करें अथवा मेरा शरीर नाश को प्राप्त हो जाय ॥५६॥ तथापि मैं अत्यन्त दुर्लभ गुरुसेवा का परित्याग नहीं करूँगा। इस प्रकार ज्ञान-ध्यान-परायण बुद्धि जिस पुरुष के चित्त में उदित होती है—॥५७॥

शरीर स्वस्थ है और इन्द्रियां दुर्बल नहीं हुई हैं, तब तक सुख का साधन करे। यह शरीर शीघ्र ही नष्ट होने वाला है, ऐसा विचार कर ज्ञानी शरीर-सुख का साधन करे। मरीचि के पुत्र कश्यप ने दक्ष की तेरह कन्या विवाहीं, फिर गम्या और अगम्या का विचार व्यर्थ है। प्रजापति के मुख, बाहु, जंघा और चरण से चार वर्ण उत्पन्न हुये, यह पूर्व पुरुषों की केवल कल्पना है। एक पुरुष से उत्पन्न होने वाले चारों पुत्र भिन्न-भिन्न वर्ण वाले नहीं हो सकते, इसलिए यह वर्ण-अवर्ण का विभाग व्यर्थ है, सब मनुष्य एक हैं।' इस प्रकार के अनेक उपदेशों से 'अरिहन्' ने दैत्यों को मोहित करके उन्हें अपने पाखण्ड-धर्म की दीक्षा दी। दैत्यों ने शिवपूजन त्याग दिया और परिणामस्वरूप वे सब मारे गये। (शिवपुराण, द्वितीय रुद्रसंहिता, युद्ध खंड ५, अ० ५) वर्तमान् में इस प्रकार का पाखन्ड-धर्म सर्वत्र देखने में आता है। यही कारण है कि मनुष्य का निरन्तर पतन हो रहा है।

तस्य तुष्टा महामाया चतुर्वर्गान् प्रयच्छति ।
शिष्याश्च वहवः सन्ति सद्गुरोर्म्मम सुव्रते ॥५८॥
कस्यचिज्जायते तेषां सद्भक्तिरनपायिनी ॥५९॥
धिग्धनं धिग्बलं तेषां धिक्कुलं धिग्विचेष्टितम् ।
यस्य नोत्पद्यते भक्तिर्गुरुदेवे महेश्वरे ॥६०॥
गुरुसेवा गुरुध्यानं गुरुस्तोत्रं गुरोर्जपः ।
गुरोः पूजा गुरोस्तृप्तिः गुरोर्भक्तिर्नृणां यदि ॥६१॥

उस पुरुष से सन्तुष्ट होकर महामाया देवी उसे चतुवर्ग-फल[1] प्रदान करती हैं । हे सुव्रते ! मुझ स्वरूप सद्गुरु के बहुत से शिष्य हैं ।।५८।। उनमें से किसी-किसी को ही अविनश्वर सद्भक्ति प्राप्त होती है ।।५९।। महेश्वर स्वरूप गुरुदेव में जिनकी भक्ति उत्पन्न नहीं होती उनके धन, बल, कुल और चेष्टा (उद्योग) इन सब को धिक्कार है ।।६०।। हे देवि ! जन्मभाग्यवशात्[2] (पूर्वजन्म के शुभ कर्मों के फल से) जिन शिष्यों में कुछ गुरु-भक्ति उत्पन्न हो, वे यदि गुरुसेवा, गुरुध्यान,

[1]चतुर्वर्ग—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चारों पदार्थ ।

[2]जन्मभाग्य—मनुष्य अपने पूर्व जन्म के जीवन में जो शुभ-अशुभ कर्म करता है, उनमें से अत्यन्त उत्कट कर्मों का फल तो उसी जीवन में मिल जाता है, शेष कर्मों का संस्कार अणु रूप से जीव के साथ जाता है और अगले जन्म में वीज से वृक्ष की नाईं वह संस्कार प्रस्फुटित होकर प्राणी को उसी मार्ग पर चलने के लिये प्रेरित करता है और मनुष्य अपने संचित कर्मों का फल भोगता है । इस प्रकार अपने

जन्मभाग्यवशाद्देवि येषां संजायते क्वचित् ।
तेषां मन्त्रो भवेत् सिद्धो जीवन्मुक्ताश्च ते नराः ॥६२॥
स्त्रीभिः पुत्रैश्च पौत्रैश्च पितृमातृस्वबन्धुभिः ।
विधातव्या गुरौः सेवा सत्यं सत्यं वरानने ॥६३॥
ग्राममध्ये स्थितः शिष्यस्त्रिसन्ध्यं प्रणमेद्गुरुम् ।
क्रोशमध्ये स्थितो नित्यमेकवारं समाचरेत् ॥६४॥

गुरुस्तोत्र[3] पाठ, गुरुमन्त्र जप और गुरुपूजा आदि से गुरु की तृप्ति करें तो उनको (गुरु का दिया हुआ) मन्त्र सिद्ध हो जाता है और वे मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाते हैं ॥६१-६२॥ अतएव, हे वरानने ! स्त्री, पुत्र, पौत्र, पिता, माता और अपने भाई-बन्धुओं सहित गुरु की सेवा करनी चाहिये। यह सत्य है, सत्य है ॥६३॥ (गुरु और शिष्य) यदि एक ही ग्राम में रहते हों तो शिष्य तीनों सन्ध्याओं (प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल) में (गुरु के समीप जाकर) गुरु को प्रणाम करे और यदि एक कोस के अन्तर पर गुरु रहते हों तो नित्य एक बार वहाँ जाकर प्रणाम करे ॥६४॥ यदि गुरु एक योजन (चार कोस) के अन्तर

किये हुए कर्मों के फल का नाम ही भाग्य है । भाग्य के चार विभाग किये गये हैं, यथा—संचित, प्रारब्ध, क्रियमाण और भावी । यह भाग्य इतना प्रबल है कि इस पर मनुष्य का कोई अधिकार नहीं हो सकता ।

समुद्रमन्थने लेभे हरिर्लक्ष्मीं हरो विषम् ।
भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम् ॥ (उद्धृत)

[3]गुरुस्तोत्र अन्त में दिया गया है ।

योजनान्तः स्थितः शिष्यो वर्षे वारत्रयं नमेत् ।
अशक्तश्चैकवारं वा स्ववर्गान् वा नियोजयेत् ॥६५॥

पर निवास करते हों तो शिष्य वर्ष में तीन बार (वहाँ जाकर गुरु को) प्रणाम करे और असमर्थ होने पर (वर्ष में) एक ही बार (गुरु को प्रणाम करने के लिये) जावे अथवा (इसमें भी असमर्थ होने पर) अपने जातिसमूह में से किसी को इस कार्य के लिए नियुक्त करे ॥६५॥

विनीतं भ्रातरं वापि पुत्रं वा प्रियदर्शनम् ।
पितरं वा नियुञ्जीत गुरोः संतोषकर्म्मणि ॥६६॥
एक ग्रामस्थितः शिष्यो वाटीश्चैव स्थितोऽपि वा ।
गुरुपूजां विना नैव पृथक् पूजां समाचरेत् ॥६७॥
तस्यैवाज्ञावशाद्वापि यदि देवीं प्रपूजयेत् ।
गुरोः पादाब्जयोरादौ दद्यात्पुष्पाञ्जलित्रयम् ॥६८॥

गुरु को सन्तुष्ट करने के लिये (उस स्वजाति समूह में से) विनीत भ्राता या पुत्र वा प्रियदर्शन व्यक्ति (जो देखने में प्यारा लगता हो) अथवा पिता को नियुक्त करे॥६६॥ (यदि गुरु और) शिष्य एक ही गाँव में रहते हों अथवा एक ही घर में रहते हों तो (शिष्य) गुरु की पूजा किये बिना अन्य (देवता की) पूजा न करे॥६७॥ यदि गुरु की आज्ञा से भी इष्ट देवी का पूजन करे तो प्रथम गुरुदेव के चरणकमलों में तीन पुष्पांजलि चढ़ावे॥६८॥ गुरुपूजा ही इष्टदेवी की पूजा है (अर्थात् गुरुपूजा

देवीपूजा गुरोः पूजा तृप्तिश्च गुरुतर्पणम् ।
तद्भक्तिर्गुरुभक्तिश्च तत्स्तोत्रं गुरुवन्दनम् ॥६९॥
गन्धैः पुष्पैश्च धूपैश्च दीपैर्म्माल्यैश्च भूषणैः ।
वस्त्रैर्विविधभक्त्यर्थैर्नित्यं सम्पूजयेद्गुरुम् ॥७०॥
यानैर्ग्रामैर्वाहनैश्च पालंकैर्दिव्य भोजनैः ।
व्यञ्जनैर्दिव्यभक्ष्यैश्च छत्रपीठासनादिभिः ॥७१॥
स्वीयाभिलषितैर्द्रव्यैस्तस्याभिलषितैरपि ॥७२॥
यस्तु सम्पूजयेच्चण्डीं गुरुं ब्रह्मस्वरूपिणीम् ।
तस्य तुष्टो भवेन्नित्यं शिवश्चाहं न शंशयः ॥७३॥

से इष्टदेवी सन्तुष्ट होती हैं क्योंकि गुरु शंकर रूप हैं) और गुरु का तर्पण करने से इष्टदेवी की तृप्ति होती है। गुरुभक्ति ही इष्टदेवी की भक्ति है और गुरु-वन्दना ही इष्टदेवी का स्तोत्रपाठ है ॥६६॥ इसलिये गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, माला, आभूषण, वस्त्र और भक्तिपूर्वक लाये हुए विविध पदार्थों से (शिष्य) नित्य गुरु की पूजा करे ॥७०॥ यान (हाथी-घोड़े-रथ आदि), वाहन (पालकी आदि), ग्राम, पलङ्ग, दिव्य भोजन, भक्षण करने योग्य दिव्य व्यंजन (खीर, मोहन भोग, हलुआ आदि), छत्र, चौकी और आसन आदि ॥७१॥ तथा अपने को जो पदार्थ अच्छे लगें, वे पदार्थ और गुरु को भी जो पदार्थ रुचिकर हों वे सब पदार्थ गुरुदेव को दे ॥७२॥ (इस प्रकार गुरु को सन्तुष्ट करके) जो व्यक्ति ब्रह्मस्वरूपिणी, गुरुभूता चण्डीदेवी की पूजा करता है,

उसके प्रति मैं शिव निरन्तर सन्तुष्ट रहता हूँ, इसमें सन्देह नहीं ॥७३॥

मम सन्तोषतो देवि तव प्रीतिश्च जायते ।
तव सन्तोषमात्रेण जीवन्मुक्तो भवेन्नरः ॥७४॥
किं दानं वा तपो होमः किं देवि सुरपूजनम् ।
किं स्नानं किं फलं तस्य यस्य न प्रीणयेद्गुरुः ॥७५॥
पुरश्चर्या महादेवि मयोक्ता बहुरूपिका ।
अवश्य पञ्चमांगेन कार्यैकफलदायिनी ॥७६॥

हे देवि ! मेरे सन्तुष्ट होने से (शिष्य पर) तुम्हारी प्रीति उत्पन्न होती है और तुम्हारे सन्तोषमात्र से मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है ॥७४॥ हे देवि ! जिस शिष्य पर गुरुदेव प्रसन्न नहीं होते उसके दान, तप, होम, देवपूजन और (तीर्थ) स्नान का कुछ भी फल नहीं होता ॥७५॥ हे महादेवि ! मैंने तुमसे बहुत प्रकार के पुरश्चरण कहे हैं, उनमें (पुरश्चरण) [1]पंचांग (जप, होम, तर्पण, अभिषेक और ब्राह्मण-भोजन) अवश्य ही कार्य का फल (सिद्धि) देने वाला है ॥७६॥ पुरश्चरण का स्थान विल्व-वृक्ष का मूल, स्मशान, जनशून्य (शान्तिपूर्ण) स्थान, देवमन्दिर,

---

[1]पंचांग—जप होमौ तर्पणश्चाभिषेको विप्रभोजनम् ।
पञ्चांगोपासनं लोके पुरश्चरणमिष्यते ॥ (तंत्रसार)
यह पंचांगोपासना है ।

तस्य स्थानं विल्वमूलं श्मशानं शून्यमन्दिरम् ।
देवालयं नदीतीरं पर्वतं गिरिकन्दरम् ॥७७॥
एकलिंगं वनं रम्यं कण्ठपूर्णजलं तथा ।
एतस्मादपि देवेशि गुरोः स्थानं महत्फलम् ॥७८॥
तत्रैव यः स्मरेद्देवि किंवा सम्पूजयेत् शिवाम् ।
तत्सर्वं कोटिफलदं शीघ्रं सिद्धिः प्रजायते ॥७९॥
एकधा गुरुगेहस्थः शिष्यो यदि जपेन्मनुम् ।
सिद्धपीठस्ततो ज्ञेयं फलं तस्य प्रजायते ॥८०॥

नदी का किनारा, पर्वत, पर्वत की कन्दरा ॥७७॥ [१]एकलिंगस्थान (जिस स्थान के पाँच कोस के बीच में एक ही शिवलिंग स्थापित हो, उस शिवलिंग के समीप), सुरम्य वन और जहाँ कंठ तक (स्वच्छ) जल (वाला तालाब आदि हो, ये सब स्थान पुरश्चरण के लिये श्रेष्ठ कहे गये हैं), किन्तु हे देवेशि ! उक्त सब स्थानों से भी गुरुस्थान (वा गुरुगृह, पुरश्चरण करने के लिये) महान् फलदायी है ॥७८॥ उस (गुरु) स्थान में, हे देवि ! भगवती की पूजा और स्मरण करने से उन सब स्थानों से करोड़ गुना (अधिक) फल होकर शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त होती है ॥७९॥ शिष्य गुरु के गृह में रहकर यदि एक बार भी मंत्र का जप करे

---

[१]एकलिंग—जहाँ पाँच कोस के मध्य में एक ही शिवलिंग हो, वह स्थान एकलिंग कहलाता है । ऐसा स्थान अतिशय सिद्धिप्रद होता है ।

तो उसको [3]सिद्धपीठ में जप करने से भी अधिक फल प्राप्त होता है ॥८०॥

गुरोर्नाम न वक्तव्यं *कदाचिदपि पार्व्वति।
आनन्दनाथश्रीपूर्वं तर्पणादौ नियोजयेत् ॥८१॥

हे पार्वति ! (किसी के सन्मुख) गुरु का नाम कहना कभी भी उचित नहीं है, किन्तु तर्पण (वा पूजा) आदि करते समय

---

[3]सिद्धपीठ—जातोलक्षबलिर्यत्र होमो वा कोटिसंख्यक. ।
महाविद्या जपः कोटिः सिद्धपीठः प्रकीर्तितः ॥ (तंत्रसार)

जिस स्थान में देवी के उद्देश्य से लाख पशुबलि हुई हो या करोड़ होम अथवा महाविद्या मंत्र का करोड़ जप हुआ हो, उस स्थान को सिद्धपीठ कहते हैं। सिद्धपीठ में उपासना करने से शीघ्र ही मंत्रसिद्धि होती है।

सिद्धपीठ में जप करने का नियम—

एकाक्षरो यदि मनुर्दिकसहस्त्रं ततो जपेत्।
द्व्यक्षरस्तु यदि मनुर्जपेदष्टसहस्त्रकम् ॥
अक्षरस्तु यदि मनुर्जपेत् पञ्चसहस्त्रकम्।
अधिकाक्षरमंत्रे तु जपेदेकसहस्त्रकम् ॥

(श्यामाप्रदीपधृत तंत्र)

अर्थात् यदि एकाक्षर मंत्र हो तो दस हजार, दो अक्षर का मंत्र हो तो आठ हजार, तीन अक्षर का मंत्र हो तो पाँच हजार और यदि अधिक अक्षर का मंत्र हो तो एक हजार जप करे। (किन्तु सर्वत्र गुरु-दक्षिणा स्वरूप आठ जप अधिक करे।)

*"जपकालादृते प्रिये"—इति पाठान्तरम्।

गुरोः स्थानञ्च कल्याणि श्रीपूर्वं समुदीरयेत् ।
तत्स्थानञ्चैव कैलासं सर्वदा परिचिन्तयेत् ॥८२॥
वारणासी प्रयागादौ गत्वा यत् फलमाप्नुयात् ।
तत्फलं कोटिगुणितं गुरोः स्थानस्य दर्शनात् ॥८३॥
गुरोः स्थानं समालोक्य दण्डवत् प्रणमेत्सुधीः ।
सिद्धपीठधिया सर्वं ततः सिद्धिमवाप्नुयात् ॥८४॥
गुरोः स्थानञ्च कैलासं गृहं चिन्तामणेर्गृहम् ।
वृक्षाली कल्पवृक्षाली भावयेत् सर्वदा हृदि ॥८५॥

प्रथम श्री, पीछे गुरु का नाम और अन्त में आनन्दनाथ शब्द का प्रयोग करना चाहिये ॥८१॥ हे कल्याणि ! गुरुस्थान का उल्लेख करते समय प्रथम 'श्री' शब्द का प्रयोग करे और उस (गुरु) स्थान का सदैव कैलास धाम के स्वरूप से ही ध्यान करे ॥८२॥ क्योंकि काशी, प्रयाग आदि तीर्थों में जाने से जो फल प्राप्त होता है उससे करोड़गुना (अधिक) फल गुरुस्थान के दर्शन से प्राप्त होता है ॥८३॥ बुद्धिमान् पुरुष गुरुस्थान को देखते ही उसको सिद्धपीठ समझकर दण्डवत् प्रणाम करे। ऐसा करने से सम्पूर्ण सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं ॥८४॥ शिष्य हृदय में सदा यही विचारे कि गुरु का स्थान कैलास है और गुरुगृह [1]चिन्तामणि गृह है, वहाँ के वृक्ष कल्पवृक्ष हैं ॥८५॥

---

[1]चिन्तामणि, कल्पवृक्ष और कल्पलता ये सब देवताओं के पदार्थ हैं। इन सब के निकट प्रार्थना करने पर मनोकामना पूर्ण होती है।

वल्ली कल्पलता ज्ञेया जलरेखा सुधोपमा ।
पुष्पाणि मणिपुष्पाणि सर्वदा परिचिन्तयेत् ॥८६॥
गुरुगेहस्थिता दास्यो भैरव्यः परिकीर्त्तिताः ।
भृत्या भैरवरूपाश्च भावयेन्मतिमान् सदा ॥८७॥

(शिष्य) सदा यही ध्यान करे कि (गुरुगृह में लगी) लताएं कल्पलताएँ हैं, जलाशय सुधासागर स्वरूप है और समस्त (लगे हुए) पुष्प मणिपुष्प स्वरूप हैं ॥८६॥ बुद्धिमान् मनुष्य सदा यही भावना रक्खे कि गुरुगृहस्थित दासियाँ भैरवी स्वरूप और दास-गण भैरव स्वरूप हैं ॥८७॥

भयं क्रोधं तथालस्यं परिहासं प्रलापनम् ।
मिथ्या मोहं तथा द्रोहं वर्ज्जयेत् सर्वदा गुरौ ॥८८॥
गुरुगेहस्थितः शिष्यो भृत्यवत् प्रचरेत्सदा ।
अनन्यचित्तभावेन येन प्रीतो भवेद्गुरुः ॥८९॥

गुरु से भय, (गुरु पर) क्रोध, (गुरु के कार्य में) आलस्य, (गुरु के साथ) परिहास, (गुरु के निकट) प्रलाप (पागलों की नाईं व्यर्थ की बातें), (गुरु से) झूँठ बोलना या झूँठा व्यवहार करना, (गुरु के निकट) मोह को प्राप्त होना और (गुरु) द्रोह, इन सबको सब प्रकार से त्याग दे ॥८८॥ गुरुगृह में रहने वाले शिष्य को सेवक की नाईं सदैव एकाग्र चित्त हो ऐसे भाव से सेवा करनी चाहिये कि जिससे गुरुदेव प्रसन्न हों ॥८९॥ भले

वरं प्राणपरित्यागः शिरश्छेदोऽपि वा भवेत् ।
तथापि न परित्याज्यं गुरुवाक्यं कदाचन ॥६०॥
गुरुदेवं समालोक्य चित्ते संचिन्त्य देवताम् ।
अष्टाङ्ग प्रणिपातेन नमस्कारं समाचरेत् ॥६१॥
बाहुभ्यां शिरसा पद्भ्यां श्रोत्राभ्यां च नसा तथा ।
प्रणाममाचरेन्नित्यं गुरुदेवांश्च साधकः ॥६२॥
प्रणम्य गुरुदेवञ्च शिष्यः स्थाणुरिवाचलः ।
लब्ध्वा त्वाज्ञां गुरोः पश्चात् तस्य पादतले वसेत् ॥६३
गुरौ स्थिते स्वयं स्थाता आसने च स्वयं वसेत् ।
गच्छन्तमनुगच्छेत जलपन्तं मौनमाचरेत् ॥६४॥

ही प्राण त्यागने पड़ें अथवा मस्तक ही कट जाय तथापि गुरु-वाक्य का उल्लंघन कभी भी न करे ॥६०॥ गुरुदेव का दर्शन करते ही मन ही मन उन्हें देवता समझकर साष्टांग प्रणाम करे ॥६१॥ साधक को नित्य (सदैव ही) दोनों बाहु द्वारा, शिर द्वारा, दोनों पैरों द्वारा, दोनों कानों द्वारा और नासिका द्वारा (भूमि स्पर्श करके) गुरुदेव को प्रणाम करना चाहिये (यही प्रणाम अष्टांग प्रणाम है) ॥६२॥ गुरुदेव को साष्टांग प्रणाम करके शिष्य खम्भे की नाईं स्थिर खड़ा रहे और गुरु की आज्ञा पाने के पश्चात् उनके चरणों के निकट बैठे ॥६३॥ (विशेषकर जब गुरुदेव खड़े हों तब शिष्य को भी खड़ा हो जाना चाहिये) गुरुदेव के स्वयं आसन पर बैठ जाने के पश्चात् शिष्य (अपने आसन पर) बैठे ।

जब गुरुगमन करें तब शिष्य उनका अनुगमन करे अर्थात् उनके पीछे-पीछे चले और जब गुरु बोलें तब शिष्य मौन रहे ॥६४॥

अन्यस्मिन् प्रेरिते कार्ये स्वयं दासवदाव्रजेत् ।
गुरोर्योनिं गुरोः पीठं गुरुं दद्यान्न चाश्रयेत् ।
गुरोर्वस्त्रमलंकारं कदाचिन्नापि धारयेत् ॥६५॥
गुरुगेहस्थितः शिष्यो यद्यत् पुण्यं समाचरेत् ।
तत्सर्वमक्षयं प्रोक्तं पुण्यतीर्थशताधिकम् ॥६६॥
गुरुपादोदकं यस्तु मूर्द्ध्नि संधारयेत् सुधीः ।
स तीर्थशतकोटीनां फलं दशगुणं लभेत् ॥६७॥

गुरु यदि अन्य व्यक्ति को भी किसी कार्य के लिये नियुक्त करें, तो शिष्य स्वयं ही सेवक की नाईं उस कार्य को करने के लिए तैयार हो जाय। गुरु की (भोग्या या काम्या) शक्ति और गुरु के बैठने की चौकी या आसन गुरु को ही अर्पण करे, स्वयं ग्रहण न करे, न उन्हें व्यवहार में लावे। गुरु के वस्त्र और आभूषण भी (शिष्य) कदापि धारण न करे ॥६५॥ शिष्य गुरु-गृह में रहकर जो पुण्य-संचय करता है, वे सब पुण्य शत-शत पवित्र तीर्थों से भी अधिक फलदायक और अक्षय होते हैं ॥६६॥ जो बुद्धिमान् साधक गुरु के चरणामृत को मस्तक पर धारण करता है, वह शत कोटि तीर्थों (का जल धारण करने) से भी दश गुणा (अधिक) फल पाता है ॥६७॥ जो बुद्धिमान् साधक तीनों

त्रिसन्ध्यं पीयते यस्तु गुरुपादोदकं सुधीः ।
तस्य नास्ति पुनर्जन्म संसारे मोहवर्त्तने ।।९८।।
एकग्रामस्थितः शिष्यो भिन्नग्रामस्थितोऽपि वा ।
त्रिसन्ध्यं प्रपिवेन्नित्यं गुरुपादार्च्चनं जलम् ।।९९।।
अकालमृत्युहरणं रोगव्याधिविनाशनम् ।
सुखमोक्षप्रदं श्रीमद्गुरुपादोदकं पिवेत् ।।१००

सन्ध्याओं में गुरु के चरणोदक को पान करता है उसका इस मोह के भंवर में फँसे संसार में फिर जन्म नहीं होता ।।९८।। शिष्य एक ग्राम (गुरु के ग्राम) में रहता हो अथवा दूसरे ग्राम में भी रहता हो, किन्तु गुरु का चरणामृत उसे नित्य तीनों संध्याओं में पीना चाहिये ।।९९।। श्रीमद् गुरुदेव का चरणामृत अकाल मृत्यु और रोग आदि समस्त व्याधियों का नाश करने वाला है। गुरुपादोदक पीने से भोग और मोक्ष (दोनों) प्राप्त होते हैं।।१००।।

गुरुपादोदकं दृष्ट्वा प्रदक्षिणमनुव्रजन् ।
प्रणम्य शिरसा देवं पश्चात् पानं विधीयते ।।१०१
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च सर्वे च पितृदेवताः ।
तिष्ठन्ति श्रीगुरोः पादपद्मार्च्चितशुभे जले ।।१०२

गुरुचरणोदक के दर्शन करते ही (प्रथम) उसकी प्रदक्षिणा करे, पश्चात् शिर झुकाकर गुरुदेव को प्रणाम करके उसको पान करना उचित है ।।१०१।। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, पितृगण और

गुरुपादोदकं यस्तु नित्यं पिवति मानवः ।
धर्मार्थकाममोक्षाणामधिपो जायते च सः ॥१०३

गुरुपादार्च्चितन्तोयं लंघयेन्न कदाचन ।
जलेन क्षालयेत् शिष्यः परलंघनजाद्भयात् ॥१०४

गुरोश्छायाश्च धर्मार्थी लंघयेन्न कदाचन ।
गुरोरग्रे समं वापि न गच्छेत् पामरो नरः ॥१०५

त्रिसन्ध्यं पूजयेद्यस्तु गन्धपुष्पैर्जगद्गुरुम् ।
तस्य किं यन्त्र पूजादौ विधानं न्यासजालकम् ॥१०६

देवगण ये सब ही श्रीगुरु के पादपद्मार्चित शुभ जल में वास करते हैं ॥१०२॥ जो मनुष्य प्रतिदिन श्रीगुरु के चरणामृत का पान करता है वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का अधिकारी होता है अर्थात् ये चारों पदार्थ उसे अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं ॥१०३॥ गुरुपादार्चित जल का कभी भी लंघन न करे (यदि गुरुचरणामृत पृथ्वी पर गिर जाय तो उसे) दूसरे द्वारा लंघन होने के भय से शिष्य (उस स्थान को) जल से धो डाले ॥१०४॥ धर्म की इच्छा वाला शिष्य कभी भी गुरु की छाया का लंघन न करे। गुरु के आगे अथवा (गुरु के) बराबर (कभी) न चले, पामर नर (दुष्ट शिष्य) भी ऐसा नहीं करते ॥१०५॥ जो शिष्य तीनों संध्याओं (प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल) में गन्ध-पुष्प आदि से जगद्गुरु शंकर का पूजन करता है, उसे [1]न्यासजाल

---

[1]न्यास—प्रातःकाल सन्ध्याकर्म में, देवपूजन के समय और होम-

यद्यद्वारं गुरोः स्थानं गम्यते कार्यकारणात् ।
तत्तद्वारं नमेत्प्राज्ञो गुरुदेवं सनातनम् ॥१०७

और [2]यंत्र की पूजा आदि के विधान से क्या प्रयोजन है ? ॥१०६॥ जब, जितनी बार किसी कार्य के लिये गुरुदेव के स्थान को

कर्म में न्यास करना होता है । न्यास पूजा का अंग है, उनमें करन्यास अंगन्यास और मातृकान्यास प्रधान हैं जो पापनाशक हैं । अङ्गन्यास और करन्यास ही मातृकान्यास का षडङ्गन्यास है, इसमें "नमः, स्वाहा, वषट्, हुं, वौषट् और फट्" इन छै मंत्रों से छै अंगों में न्यास करना होता है । पाँच अंगुली और करतल पृष्ठ से करन्यास और हृदय, शिर, शिखा, दोनों भुजाएँ, दोनों नेत्र और करतलपृष्ठ इन छै अंगों में छै मंत्रों से जो न्यास किया जाता है उसे अङ्गन्यास वा षडङ्गन्यास कहते हैं । मातृकान्यास में समस्त स्वर और व्यंजन समूह हैं जिनमें स्वरसमूह शक्ति रूप और व्यंजन बीज रूप हैं । इस प्रकार सभी वर्णमाला को अनुस्वारयुक्त करके 'अं नमः, आं नमः' आदि रूप से न्यास किया जाता है । ये मातृकान्यास, ऋष्यादिन्यास, करन्यास और अङ्गन्यास आदि न्यास बाह्य न्यास हैं, इन्हें करके अन्तर्मातृकान्यास देह स्थित छै पद्मों में किया जाता है । इन पद्मों के नाम, रूप और उनके अक्षर समूह का विवरण श्लोक संख्या ३० की टिप्पणी नं० १ में दिया गया है । यह न्यास उन पद्मों के रूप और उनके अक्षरसमूह का ध्यान करने से ही सम्पन्न हो जाता है । मातृकान्यास और भूतशुद्धि न करने से पूजा निष्फल होती है । न्यास भिन्न-भिन्न देवताओं के विषय में भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं ।

[2] यंत्र दो प्रकार के होते हैं । एक धारणयंत्र और दूसरे पूजायंत्र । यंत्र में देवता का अधिष्ठान रहता है, इसलिये यंत्र अंकित कर देवता

जाना पड़े, उतनी बार बुद्धिमान् शिष्य सनातन (शंकर स्वरूप) गुरुदेव को प्रणाम करे ॥१०७॥

शुक्लपुष्पधरं माल्यं श्रद्धया ग्रथितं स्वयम् ।
धृष्टश्च चन्दनं श्वेतं गुरोरपि निवेदयेत् ॥१०८
तस्य मोक्षो भवेद्देवि त्वयि भक्तिश्च जायते ॥१०९
गुरोरन्नं महादेवि यस्तु भक्षणमाचरेत् ।
कोटिजन्मार्जितं पापं तत्क्षणात्तस्य नश्यति ॥११०

(विशेषकर उस समय) श्रद्धापूर्वक स्वयं गूँथी हुई श्वेत पुष्पों की माला और घिसा हुआ श्वेत चन्दन गुरु को अर्पण करे ॥१०८॥ हे देवि ! (जो शिष्य इस प्रकार कार्य करेगा) उसकी तुम्हारे प्रति भक्ति उत्पन्न हो जायगी और (अन्त में) उसे मोक्ष प्राप्त होगी ॥१०९॥ हे महादेवि ! जो शिष्य गुरु (के प्रसाद) का अन्न भक्षण करता है, उसके करोड़ जन्म के

की पूजा की जाती है । भिन्न-भिन्न देवी-देवताओं के यंत्र भी भिन्न-भिन्न हैं । यंत्र-कवच धारण करने से विघ्न-बाधा दूर होती है । पूजायंत्र साधारणतः चन्दन द्वारा अंकित किया जाता है । धारणयंत्र केशर, गोरोचन, अदरख, कस्तूरी और चन्दन इन द्रव्यों से सोने की कलम द्वारा लिखना चाहिये । सुवर्णपत्र पर लिखा धारणयंत्र यावज्जीवन, चाँदी के पत्र पर लिखा यंत्र २० वर्ष, भोजपत्र पर लिखा १२ वर्ष और ताम्रपत्र पर लिखा यंत्र ६ वर्ष तक पहना जा सकता है । यंत्र लिखकर उसका यथाविधि संस्कार होना आवश्यक है, तभी वह धारण-योग्य होता है ।

न स्नानं पादशौचञ्च न चैवाचमनञ्चरेत् ।
प्राप्तिमात्रेण भोक्तव्यं नैव स्थानं विचिन्तयेत् ॥१११
न ब्राह्मण्यं न कौलीन्यं न जातीनां विचारणम् ।
न ज्ञातिसुतबन्धूनां सम्मानं परिचिन्तयेत् ॥११२
एकस्थानस्थितञ्चान्नं सतीर्थं मंडलीकृतम् ।
भोक्तव्यं मोक्षदं देवि शूद्रस्पृष्टं न चिन्तयेत् ॥११३

संग्रहीत पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं ॥११०॥ (गुरु के प्रसाद का अन्न) प्राप्त होते ही भोजन करे, (उस समय) स्नान करने, चरण धोने तथा आचमन करने की आवश्यकता नहीं है और न स्थान के विचार करने की ही आवश्यकता है ॥१११॥ मैं ब्राह्मण हूँ (अभी सन्ध्या-वन्दनादि नहीं किया), मैं कुलीन हूँ (अभी स्नान आदि नहीं किया), मैं उच्च जाति का हूँ (कैसे खड़े होकर भक्षण करूँ ?) इन बातों के विचारने की आवश्यकता नहीं है और जाति, पुत्र तथा बन्धुगणों द्वारा (प्राप्त) सम्मान की भी चिन्ता न करे (कि वे मुझे देखकर क्या कहेंगे ? तात्पर्य यह है कि जिस अवस्था में भी हो, गुरु का प्रसाद पाते ही भक्षण कर ले) ॥११२॥ हे देवि ! यदि (गुरु के प्रसाद का) अन्न एक स्थान में रक्खा हो और सतीर्थगण (एक गुरु के अनेक शिष्य या सहपाठी गण उस प्रसाद के निमित्त) [1]मंडला-

---

[1]भगवान् नारायण के आदेशानुसार जगन्नाथ जी का प्रसाद जाति-भेद की परवाह न करके चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र)

गुरोरन्नं सुधाबुद्धया यस्तु खादति मानवः।
शिवोऽहं तस्य देवेशि तुष्टो भवति नान्यथा ॥११४

कदाचित् परमेशानि यदि स्याद्वै भ्रमो भवेत्।
न तस्य निष्कृतिर्दृष्टा कल्पकोटिशतैरपि ॥११५

कार होकर आवें तो भी उस मोक्षदायक अन्न को खाले (यदि उस मंडली में कोई शूद्र भी हो तो) शूद्र के स्पर्श का विचार न करे ॥११३॥ हे देवेशि! जो मनुष्य गुरु के (प्रसाद के)अन्न को अमृत समझकर खाता है उससे मैं शिव सन्तुष्ट हो जाता हूँ, यह मिथ्या बात नहीं (सत्य) है ॥११४॥ हे परमेश्वरी! यदि इस विषय में कदाचित् किसी को भ्रम या अन्यथा बुद्धि हो तो शतकोटि कल्प में भी उसका उद्धार दिखाई नहीं देता ॥११५॥

गुरोरुच्छिष्टकं देवि सर्वांगे चानुलेपयेत्।
वज्रेऽपि तस्य गात्राणि न भिन्दन्ति कदाचन ॥११६

हे देवि! (शिष्य को चाहिये कि) गुरु का उच्छिष्ट (जूंठा अन्न अपने शरीर के) सब अंगों में लेपन करे (ऐसा करने से) उसका शरीर वज्र के आघात से भी कभी नहीं भिद सकता (अन्य शस्त्रों की तो बात ही क्या है?) ॥११६॥ हे देवि!

एक साथ बैठ कर खाते हैं। ऐसा शान्त पवित्र भाव हिन्दू जगत् में किसी दूसरे स्थान पर नहीं है। गुरु-प्रसाद की महिमा भी ऐसी ही है कि उसे एक साथ बैठकर खाने में दोष नहीं होता।

गुरोरुच्छिष्टकं देवि भुक्तिमुक्तिप्रदं भवेत् ।
अवश्यं कौलिकैः शिष्यैर्भक्षितव्यं दिने दिने ।।११७
गुरोरुच्छिष्टकं देवि तवोच्छिष्टं हितं भवेत् ।
तवोच्छिष्टं महादेवि ब्रह्मादीनां सुदुर्लभम् ।।११८
अतः संप्रार्थ्यते नित्यमिन्द्राद्यैस्त्रिदशैः सदा ।।११९
गुरोरुच्छिष्टमन्नं यो भक्षयेत् भक्तिभावतः ।
अन्नपूर्णा जगद्धात्री तस्यैश्वर्य्यं प्रयच्छति ।।१२०
न भक्षयेत् यस्तु मोहात् गुरोरुच्छिष्टकं प्रिये ।
तस्य क्रुद्धा भवेस्त्वं हि विपत्तिश्च पदे पदे ।।१२१

गुरु का उच्छिष्ट अन्न भोग और मोक्ष का देने वाला होता है, इस कारण कौलिक शिष्य को उसे अवश्य ही प्रतिदिन खाना चाहिये ।।११७।। हे देवि ! गुरु का उच्छिष्ट अन्न तुम्हारे उच्छिष्ट अन्न जैसा ही हितकर होता है। हे महादेवि ! तुम्हारा उच्छिष्ट अन्न ब्रह्मा आदि देवताओं को भी परम दुर्लभ है ।।११८।। इसी कारण इन्द्रादि सब ही देवगण (गुरु-उच्छिष्ट और तुम्हारे उच्छिष्ट की) सदा नित्य ही प्रार्थना करते हैं ।।११९।। जो पुरुष भक्तिपूर्वक गुरु का उच्छिष्ट अन्न भक्षण करता है, जगद्धात्री अन्नपूर्णा (उससे प्रसन्न होकर) उसको ऐश्वर्य प्रदान करती हैं ।।१२०।। हे प्रिये ! जो पुरुष मोह (अज्ञान) वश गुरु का उच्छिष्ट भक्षण नहीं करता, उस पर तुम क्रोधित हो जाती हो और पग-पग पर उस पर विपत्ति आती है ।।१२१।। यदि

यदि भाग्यवशेनैव तदुच्छिष्टकं लभेन्नरः ।
प्रणम्य मूद्ध्र्ना नेतव्यं शुद्धाशुद्धं न चाचरेत् ॥१२२
इति ते कथितं तन्त्रं रहस्यं परमाद्भुतम् ।
न प्रकाश्यं पशोरग्रे यतो हानिश्च जायते ॥१२३

सौभाग्यवश किसी व्यक्ति को गुरु का उच्छिष्ट अन्न प्राप्त हो तो प्रणामपूर्वक उसे मस्तक पर चढ़ाकर ले ले, शुद्ध-अशुद्ध का विचार न करे ॥१२२॥ यह परम अद्भुत और परम गोपनीय गुरुतन्त्र तुम से कहा है। इस तंत्र को पशवाचारी के निकट प्रकाश नहीं करना चाहिये, इससे हानि होती है ॥१२३॥

गोपनीयं महत्तन्त्रं यद्यत् कीर्तयतेऽधुना ।
तत्वं शृणु वरारोहे यतः सिद्धिरदूरतः ॥१२४
गुरुशुश्रूषणं वक्ष्ये लोकानां हितकाम्यया ।
यस्य विज्ञानतो देवि पुरश्चर्याफलं लभेत् ॥१२५
तदर्थं श्रीगुरोः सेवा पुरश्चर्या यथोच्यते ।
पुरश्चरणहीनस्तु गुरुसेवामथाचरेत् ॥१२६

हे वरारोहे ! इस गोपनीय महातन्त्र में अब तक जो कुछ कहा है, उसके गूढ़ तत्व को सुनो जिससे सिद्धि दूर नहीं रहती ॥१२४॥ हे देवि ! संसार के हितसाधन के लिए गुरु-सेवा की रीति कहता हूँ, इसके जान लेने से पुरश्चरण का फल प्राप्त होता है ॥१२५॥ अतएव गुरुसेवा रूप पुरश्चरण कहता हूँ। पुरश्चरण न करने वाला पुरुष केवल गुरुसेवा ही करे ॥१२६॥

नमस्कृत्य गुरोः स्थानं गन्तुं यात्राविधिञ्चरेत् ।
पूर्वोक्तरूपवत् सेवां तस्य नित्यं समाचरेत् ।।१२७
रात्रिशेषे समुत्थाय पूर्वोक्तध्यानमाचरेत् ।
ततः श्रीगुरुदेवस्य निकटं प्रविशेत् शनैः ।
प्रणम्य दण्डवत् पादे पल्यंकं भ्रामयेत्रिधा ।।१२८
नियतं शिवरूपं तं व्यजनं परिकल्पयेत् ।
अथ द्वारं पुरस्कृत्य स्वयं करपुटो भवेत् ।।१२९
त्यक्तनिद्रगुरोः पश्चात् तन्मुखं परिपश्यति ।
ततो भृत्यसमः शिष्यो गुरोराज्ञां समाचरेत् ।।१३०

(गुरुसेवा रूप पुरश्चरण करने के अभिप्राय से) गुरुस्थान को गमन करने से पहले गुरुदेव को प्रणाम करके यात्रा करे, फिर पहले कहे हुए नियम के अनुसार प्रतिदिन गुरुदेव की सेवा करे ।।१२७।। (प्रति दिन) रात्रि के पिछले प्रहर (ब्रह्ममुहुर्त) में उठकर पूर्व कथित (नियम के अनुसार गुरुदेव का) ध्यान करे, पश्चात् धीरे-धीरे श्रीगुरुदेव के निकट जाकर उनके चरणों में साष्टांग प्रणाम करके शयनपर्यङ्क की तीन बार प्रदक्षिणा करे ।।१२८।। फिर निश्चित् रूप से (कुछ समय तक) उन शिव रूप गुरुदेव पर पङ्खा डुलावे, पश्चात् (शयन-कक्ष के) द्वार पर आकर हाथ जोड़े खड़ा रहे ।।१२९।। इसके पश्चात् जब गुरु की निद्रा भंग हो, तब उनके मुख के दर्शन करे। फिर शिष्य सेवक की नाईं गुरु की आज्ञा का पालन करे ।।१३०।।

प्रातरारभ्य सत्शिष्यो गुरोरनुचरो भवेत् ।
स्नानं सन्तर्पणं पूजां त्यक्त्वा गुरुपरो भवेत् ॥१३१

भृत्यान् निवर्त्य सत्शिष्यो दासवत् स्वयमाचरेत् ।
परिचर्या गुरोः कार्या तस्मै प्रीतिपरो भवेत् ॥१३२

गुरुस्नानं कारयित्वा स्वयन्तु स्नानमाचरेत् ।
तत्पादयोर्जलं मूध्द् नि दत्वा स्नायी स्वयं भवेत् ॥१३३

तस्य पूजां ततः कृत्वा तस्य पादोदकं पिवेत् ।
ततो भुंक्ते गुरोः पश्चात् तदुच्छिष्टन्तु भक्षयेत् ॥१३४

इस प्रकार प्रातःकाल से (समस्त दिन पर्यन्त) श्रेष्ठ शिष्य को गुरु का अनुचर होकर रहना चाहिये। उस समय स्नान, पूजा और तर्पण आदि भी त्यागकर गुरु परायण रहे ॥१३१॥ श्रेष्ठ शिष्य (गुरु के) सेवकों को कार्य से हटाकर स्वयं ही दास की नाईं उन कार्यों को करे। इस प्रकार गुरु के प्रति प्रीति-परायण होकर गुरु की सेवा करनी चाहिये ॥१३२॥ (गुरु के स्नान के समय) गुरु को स्नान कराने के पश्चात् स्वयं स्नान करे (स्नान करने का नियम यह है कि) गुरु के चरणों का जल मस्तक पर चढ़ाकर स्वयं स्नान करे ॥१३३॥ फिर गुरु की पूजा करके उनका चरणामृत पिये, फिर गुरु के भोजन करने के पश्चात् उनका उच्छिष्ट भोजन करे ॥१३४॥ फिर, हे देवेशि !

तस्मिन् शयिते देवेशि पादसम्मार्जनं चरेत् ।
सुसज्जीकृत्य ताम्बूलं दत्वा शुश्रूषणञ्चरेत् ॥१३५

तदाज्ञां प्राप्य शयनं स्वयं कुर्यात् सचेतनः ।
एवं गुरोः स्वयं शिष्यो नित्यं सेवां समाचरेत् ॥१३६

वर्षमेकं महादेवि प्रत्यहं गुरुदैवते ।
ततः सिद्धमनुर्मन्त्री महासिद्धीश्वरो भवेत् ॥१३७

एतत् शुश्रूषणं नित्यमेकचित्तेन कारयेत ।
चलच्चित्तेन देवेशि वृथैव परिकल्पयेत् ॥१३८

ताम्बूल को (कत्था-चूना-सुपारी-इलायची-केशर आदि से) सुसज्जित कर गुरु को प्रदान करके व्यजनादि से उनकी सेवा करे। जब वे शयन करें तो उनके चरण दाबना चाहिये ॥१३५॥ फिर गुरु की आज्ञा पाकर शिष्य सचेत भाव से स्वयं शयन करे। इस प्रकार प्रतिदिन शिष्य को स्वयं गुरु की सेवा करनी चाहिये ॥१३६॥ हे महादेवि ! एक वर्ष पर्यन्त प्रतिदिन इस प्रकार गुरुदेव की सेवा करने से मंत्रसिद्धि प्राप्त होगी और साधक महासिद्धि (अर्थात् अणिमा आदि आठ सिद्धियों) का अधिपति हो सकेगा ॥१३७॥

हे देवेशि ! (साधक) प्रतिदिन इस प्रकार एकाग्रचित्त से (नियमपूर्वक गुरु की) सेवा करे। चंचल चित्त रहने से सब

गुरुसेवां स्वयं कृत्वा निष्क्रियः परिचारकः ।
ततो रात्रौ जपेन्मन्त्रं गुरुपादतलान्तिके ॥१३९

ततो वर्षान्तरे जाते गुरुः संतुष्टमानसः ।
परमाशीर्व्वचो दद्यात् शिष्याय भक्तयेऽर्थिने ॥
सिद्धमन्त्रो भवेस्त्वं हि गच्छ शीघ्रं निजालयम् ॥१४०

इत्युक्ते च गुरौ देवि शिष्योऽपि दत्तदक्षिणः ।
विभवस्यानुरूपेण सर्वस्वं वा निवेदयेत् ॥१४१

तदर्द्धं वा तदर्द्धं वा अर्ज्जकस्यार्द्धमेव च ॥१४२

प्रयत्न वृथा होता है, उसका कोई फल नहीं होता ॥१३८॥ (गुरु सेवा में निरत) शिष्य (समस्त दिन) स्वयं गुरुसेवा करके जब कोई कार्य शेष न रहे तब रात्रि को गुरुचरणों के निकट बैठ-कर मन्त्र का जप करे ॥१३९॥ इस प्रकार एक वर्ष व्यतीत होने पर गुरु सन्तुष्ट होकर कृपाप्रार्थी भक्त शिष्य को ऐसा परम आशीर्वाद वचन कहे कि "तुम्हें मंत्र सिद्ध होगा, अब तुम अपने गृह को जाओ, विलम्ब की आवश्यकता नहीं है" ॥१४०॥ हे देवि ! गुरु के ऐसा कहने पर शिष्य भी गुरु को दक्षिणा दे। (दक्षिणा देने का नियम यह है कि) अपने वैभव के अनुसार अपना सर्वस्व या उसका आधा अथवा उसका भी आधा (चौथाई) भाग अथवा आमदनी का आधा भाग (गुरु जी को)

स्ववर्गान् परितोष्यैव उद्धृत्तं यच्च जायते ।
तदेव गुरवे दद्यात् प्रत्यक्षाय शिवाय च ॥१४३

तत्पत्नीं तत्सुतं भ्रातृन् बन्धुवर्गाश्च तोषयेत् ।
वस्त्रैर्नानाविधैर्द्रव्यैः ततः सिद्धीश्वरो भवेत् ॥१४४

इत्येतत् कथितं तुभ्यं गुरुतन्त्रं मम प्रियम् ।
गोपनीयं सदा यत्नात् पठनीयं गुरोः स्थले ॥१४५

शिवालये नदीतीरे विल्वमूले पठेत् सुधीः ।
प्रातर्मध्याह्न सायाह्ने पाठयेच्च पठेत् सुधीः ॥१४६

अर्पण करे ॥१४१-१४२॥ अथवा अपने कुटुम्बीजनों का प्रतिपालन करके जो शेष रहे, वही प्रत्यक्ष शिवरूप गुरुदेव को प्रदान करे ॥१४३॥ (गुरुदक्षिणा देने के पश्चात्) गुरुपत्नी, गुरुपुत्र, गुरुभ्राता और गुरु के बन्धुवर्ग को वस्त्र तथा अनेक प्रकार के पदार्थ देकर उन्हें सन्तुष्ट करे। ऐसा करने से साधक शिष्य सिद्धीश्वर (सिद्धियों का स्वामी) हो जाता है अर्थात् समस्त सिद्धियाँ उसके हस्तगत हो जाती हैं ॥१४४॥

यह मैंने अपना परमप्रिय गुरुतंत्र तुम से कहा है। इसको सदा यत्नपूर्वक छिपाकर रक्खे और गुरुस्थान में (इसका) पाठ करे ॥१४५॥ बुद्धिमान् साधक प्रातःकाल, मध्याह्न और सायंकाल में इसका पाठ करे अथवा (अपने लिये किसी दूसरे

इदं मयोक्तं कल्पं हि न प्रकाश्यं कदाचन ।
नाभक्ताय प्रदातव्यं नास्तिकाय कदाचन ॥१४७
नष्टाय च महादेवि मलिनाय न दापयेत् ।
गुरुभक्तिविहीनाय क्रोधलोभरतात्मने ॥१४८
अनिन्दकाय शुद्धाय तन्त्रराजं प्रकाशयेत् ।
यस्य गेहस्थितं देवि एतत्तन्त्रं तव प्रियम् ॥१४९

से) पाठ करावे। बुद्धिमान् मनुष्य शिव मन्दिर में, नदी किनारे अथवा विल्व वृक्ष के मूल में (बैठकर) पाठ करे, (इससे विशेष फल प्राप्त होता है) ॥१४६॥ मेरा कहा हुआ यह कल्प (वेदाङ्ग ग्रन्थ विशेष गुरुतंत्र) किसी भी व्यक्ति के निकट प्रकाशित नहीं करना चाहिये (विशेषकर) अभक्त तथा नास्तिक (ईश्वर एवं परलोक सत्ता में तथा वेदादि धर्मग्रन्थों में अविश्वासी) पुरुष को इसे कभी भी न दे ॥१४७॥ हे महादेवि! जो पुरुष नष्ट (आचारणहीन वा चरित्रभ्रष्ट), मलीन (नित्यक्रियात्यागी अथवा पापिष्ठ), गुरुभक्तिविहीन, क्रोधी और लोभ में रत रहने वाले हैं, उनको यह तंत्र कभी न दे ॥१४८॥ जो पुरुष दूसरों की निन्दा न करने वाला और शुद्ध (हृदय अथवा शुद्ध आचार वाला) हो, उसके समीप इस तन्त्रराज को प्रकाशित करना चाहिये। हे देवि! तुम्हारा प्रिय यह तंत्र जिसके गृह में रहेगा ॥१४९॥ उसको अग्निभय, चोरभय, शत्रुभय और महामारी

न च वह्निभयं तस्य न च चौरभयं भवेत् ।
न च मारीभयं तस्य शत्रुतो न भयं भवेत् ॥१५०

दीक्षां कृत्वा गुरोः स्थाने इदं नित्यं समभ्यसेत् ।
पुरश्चरणकालेऽपि निर्जने च पठेन्नरः ॥१५१

का भय नहीं रहेगा ॥१५०॥ (गुरुदीक्षा से) दीक्षित होकर शिष्य गुरुगृह में रहकर इसका नित्य पाठ करे और पुरश्चरण के समय में भी (एक वर्ष तक) एकान्त में इसका पाठ करे ॥१५१॥

इत्युक्तं मम तन्त्रराजमतुलं,
पुण्यं यशस्यं कृती ।
नित्यं शम्भुमहेश्वरीगुरुपदं,
ध्यात्वा सदा यः पठेत् ।
तस्यस्यात्किल भक्तिरात्मघटिता,
नित्यं करस्थायिनी ।
वश्यं याति महीपतिः प्रतिदिनं,
लक्ष्मीश्वरोऽयं भवेत् ॥१५२॥

मैंने यह अतुल यश का देने वाला पवित्र तन्त्रराज कहा है। जो साधक नित्य महादेव और महेश्वरी तथा श्री गुरुदेव के चरणों का ध्यान करके सदा (प्रतिदिन) इसका पाठ करेगा,

उसकी हथेली पर सदा ही आन्तरिक भक्ति रहेगी। राजा भी सदा उसके वश में रहेगा और वह (साधक) स्वयं भी लक्ष्मीश्वर (अतुल ऐश्वर्य का अधिकारी) होगा ॥१५॥

इति श्री पार्वती-शिव सम्वादे मुरादाबाद निवासि
कान्यकुब्ज कुलकमल दिवाकर
श्री पं० बलदेवप्रसाद मिश्र कृत भाषाटीकायां तथा
भ्रातृज साहित्यभूषण श्री पं०
महावीर प्रसाद मिश्र
कृत टिप्पणीयुता
श्री गुरुतन्त्रं
सम्पूर्णम् ।

आदर्श पुस्तके-कालनिरूपण ।

शाके षडब्रह्मवारां निधिशशि (शशकि) मिते पादपद्मं गुरोस्तत् ।
श्रीरामाच्छङ्करोऽसौ धरणिसुर इमां सम्प्रणम्याशु यत्नात् ॥
पुस्तीं विद्वन्मनोज्ञामलिखदति गुणैर्भूसुरैका श्रयस्य ।
श्रीमद्रारामप्रसादांघ्रिज कुलतिलकस्यातिकीर्तेः शुभाय ॥

(शाके १४१६ की हस्तलिखित प्रति के अनुसार इस गुरुतंत्र का हिन्दी अनुवाद किया गया, जिसे वर्तमान सम्वत् २०२३ में ४७१ वर्ष होते हैं)।

परिशिष्ट

प्रथम स्तोत्रपाठ का निर्णय

मुण्डमालातंत्र, रुद्रयामलतंत्र और शाक्त क्रम के अनुसार प्रथम स्तव पाठ करके कवच पाठ और अन्त में सहस्रनाम का पाठ करना चाहिये। निरुत्तरतंत्र में कालीपूजा स्थल पर लिखा है कि प्रथम कवच पाठ करके स्तव पाठ करे। भैरवतंत्र में श्रीदक्षिणकालिका पूजा स्थल पर लिखा है कि स्तव पाठ करते-करते प्रदक्षिणा करके दण्डवत् प्रणाम करे। पीछे जगन्मंगल नामक कवच का पाठ करके अन्त में सहस्रनाम का पाठ और कर्पूरादि स्तव का पाठ करे। इससे यह सिद्ध होता है कि समस्त देवताओं की पूजा में प्रथम स्तव पाठ करके कवच का पाठ करे, किन्तु कालीपूजा के समय प्रथम कवच पाठ करके पीछे स्तव पाठ करे।

वाराहीतंत्र में लिखा है कि स्तव के आदि और अन्त में प्रणव (ॐ) जोड़े और स्तव के अन्तिम श्लोक का दो बार पाठ करे। मन ही मन में स्तव तथा कवच का पाठ न करे। स्तव का प्रत्येक अक्षर स्पष्ट रूप से उच्चारण होना चाहिये। करबद्ध पूर्वक एकाग्र मन से स्तव पाठ करे। पाठ करते-करते मध्य में विराम नहीं देना चाहिये।

गुरु स्तोत्रम्

नमस्तुभ्यं महामन्त्रदायिने शिवरूपिणे ।
ब्रह्मज्ञानप्रकाशाय संसारदुःख तारिणे ॥१॥
अतिसौम्याय दिव्याय वीरायाज्ञानहारिणे ।
नमस्ते कुलनाथाय कुलकौलिन्यदायिने ॥२॥
शिवतत्वप्रकाशाय ब्रह्मतत्वप्रकाशिने ।
नमस्ते गुरवे तुभ्यं साधकाभयदायिने ॥३॥
अनाचाराचारभावबोधाय भावहेतवे ।
भावाभावविनिर्मुक्तमुक्तिदात्रे नमोनमः ॥४॥
नमस्ते शम्भवे तुभ्यं दिव्यभाव प्रकाशिने ।
ज्ञानानन्दस्वरूपाय विभवाय नमोनमः ॥५॥
शिवाय शक्तिनाथाय सच्चिदानन्दरूपिणे ।
कामरूपाय कामाय कामकेलिकलात्मने ॥६॥

कुलपूजोपदेशाय कुलाचारस्वरूपिणे ।
आरक्तनिजतच्छक्तिवामभागविभूतये ।
नमस्तेऽस्तु महेशाय नमस्तेऽस्तु नमोनमः ॥७॥

इदं स्तोत्रं पठेन्नित्यं साधको गुरुदिङ्मुखः ।
प्रातरुत्थाय देवेशि ! ततो विद्या प्रसीदति ॥८॥

कुलसम्भवपूजायामादौ यो न पठेदिदम् ।
निष्फला तस्य पूजा स्यादभिचाराय कल्प्यते ॥९॥

॥ इति कुब्जिकातन्त्रे गुरुस्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥

गुरु कवचम्

देव्युवाच—

भूतनाथ महादेव कवचं तस्य मे वद ।
गुरुदेवस्य देवेश ! साक्षाद्ब्रह्मस्वरूपिणः ॥१॥
अथातः कथयामीशे कवचं मोक्षदायकम् ।
यस्य ज्ञानं विना देवि न सिद्धिर्नच च सद्गतिः ॥२॥
ब्रह्मादयोऽपि गिरिजे ! सर्वत्र वाजिनः स्मृताः ।
अस्य प्रसादात् सकला वेदागमपुरः सराः ॥३॥
कवचस्यास्य देवेशि ! ऋषिर्विष्णुरुदाहृतः ।
छन्दोविराड्देवता च गुरुदेवः स्वयं शिवः ॥४॥
चतुर्वर्गज्ञानमार्गे विनियोगः प्रकीर्तितः ।
सहस्रारे महापद्मे कर्पूरो धवलो गुरुः ॥५॥
वामोरुस्थितशक्तिर्यः सर्वत्र परिरक्षतु ।
परमाख्यो गुरुः पातु शिरसं मम वल्लभे ॥६॥
परापराख्यो नासां मे परमेष्ठी मुखं सदा ।
कंठं मम सदा पातु प्रह्लादानन्दनाथकः ॥७॥

बाहु द्वौ सनकानन्दः कुमारानन्दनाथकः ।
वसिष्ठानन्दनाथश्च हृदयं पातु सर्वदा ॥८॥
क्रोधानन्दः कर्त्तीं पातु मुखानन्दः पदं मम ।
ध्यानानन्दश्च सर्वाङ्गं योधानन्दश्च कानने ॥९॥
सर्वत्र गुरवः पान्त सर्व्व-ईश्वररूपिणः ॥१०॥
इति ते कथितं भद्रे ! कवचं परमं शिवे ।
भक्तिहीने दुराचारे दत्वैतन्मृत्युमाप्नुयात् ॥११॥
अस्यैव पठनाद्देवि धारणात् श्रवणात् प्रिये ।
जायते मन्त्रसिद्धिश्च किमन्यत् कथयामि ते ॥१२॥
कंठे वा दक्षिणे बाहौ शिखायां वीरवन्दिते ।
धारणान्नाशयेत् पापं गंगायां कल्मषं यथा ॥१३॥
इदं कवचमज्ञात्वा यदि मन्त्रं जपेत् प्रिये ।
तत्सर्वं निष्फलं कृत्वा गुरुर्याति सुनिश्चितम् ।
शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ॥१४॥
॥ इति कंकालमालिनीतंत्रे गुरुकवचं सम्पूर्णम् ॥

श्रीगुरु-स्तोत्रम्

नमस्ते देवदेवेशि नमस्ते हरपूजिते ।
ब्रह्मविद्यास्वरूपायै तस्यै नित्यं नमो नमः ॥१॥
अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
यया चक्षुरुन्मीलितं तस्यै नित्यं नमो नमः ॥२॥
भवबन्धनपाशस्य तारिणी जननी परा ।
ज्ञानदा मोक्षदा नित्या तस्यै नित्यं नमो नमः ॥३॥
श्रीनाथवामभागस्था सदया सुरपूजिता ।
सदा विज्ञानदात्री च तस्यै नित्यं नमो नमः ॥४॥
सहस्रारे महापद्मे सदानन्दस्वरूपिणी ।
महामोक्षप्रदा देवी तस्यै नित्यं नमो नमः ॥५॥
ब्रह्मविष्णुस्वरूपा च महारुद्रस्वरूपिणी ।
त्रिगुणात्मस्वरूपा च तस्यै नित्यं नमो नमः ॥६॥
चन्द्रसूर्याग्निरूपा च सदाघूर्णितलोचना ।
स्वनाथश्च समालिङ्ग्य तस्यै नित्यं नमो नमः ॥७॥
ब्रह्मविष्णुशिवत्वादि जीवन्मुक्तिप्रदायिनी ।
ज्ञानविज्ञानदात्री च तस्यै श्रीगुरवे नमः ॥८॥
॥ इति मातृकाभेदतन्त्रे श्रीगुरोः स्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥

स्त्रीगुरु-कवचम्

स्तोत्रं समाप्तं देवेशि ! कवचं शृणु सादरम् ।
यस्य स्मरणमात्रेण वागीशसमतां व्रजेत् ॥१॥
स्त्रीगुरुकवचस्यास्य सदाशिव ऋषिः स्मृतः ।
तवाख्या देवता ख्याता चतुर्वर्गफलप्रदा ॥२॥
क्लीं बीजं चक्षुयोर्मध्ये सर्वाङ्गं मे सदावतु ।
ऐं बीजं मे मुखं पातु ह्रीं जिह्वां परिरक्षतु ॥३॥
श्रीं बीजं स्कन्धदेशं मे हसखफ्रें भुजद्वयम् ।
हकारः उष्ठदेशं मे सकारः शोड़षं दलम् ॥४॥
ऋवर्णस्तुदधः पातु लकारो हृदयं मम ।
वकारः पृष्ठदेशञ्च रकारो दक्षपार्श्वकम् ॥५॥
युङ्कारो वामपार्श्वञ्च सकारो मेरुमेव च ।
हकारो मे दक्षभुजं क्षकारो वामहस्तकम् ॥६॥

मकारश्चांगुलीं पातु लकारो मे नखं तथा ।
वकारो मे नितम्बश्च रकारो जठरं तथा ॥७॥
यींकारः पादयुगलं हेसौः सर्वाङ्गमेव तु ।
हेसौर्लिङ्गश्च लोमानि केशञ्च परिरक्षतु ॥८॥
ऐं बीजं पातु पूर्वं मे ह्रीं बीजं दक्षिणेऽवतु ।
श्रीं बीजं पश्चिमे पातु उत्तरे भूतसम्भवम् ॥९॥
श्रीं पातु चाग्निकोणे च वेदाख्या नैऋर्तेऽवतु ।
देव्यम्बा पातु वायव्यां शम्भु श्रीपादुकां तथा ।
पूजयामि तथा चोर्द्धं नमश्चाधः सदावतु ॥१०॥
इति ते कथितं कान्ते कवचं परमाद्भुतम् ।
गुरुमन्त्रं जपित्वा तु कवचं प्रपठेद्यदि ।
स सिद्धः सगणः सोऽपि शिव एव न संशयः ॥११॥
पूजाकाले पठेद्यस्तु कवचं मन्त्रविग्रहम् ।
पूजाफलं भवेत्तस्य सत्यं सत्यं सुरेश्वरि ॥१२॥
त्रिसन्ध्यं यः पठेद्देवि ! स सिद्धो नात्र संशयः ।
भूर्ज्जे विलिखितञ्चापि स्वर्णस्थं धारयेद्यदि ॥१३॥
तस्य दर्शनमात्रेण बादिनो निष्प्रभां गतः ॥१४॥

विवादे जयमाप्नोति रणे च निर्ऋतेः समः ।
सभायां जयमाप्नोति मम तुल्यो न संशयः ॥१५॥
सहस्रारे भावयन् तां त्रिसन्ध्यं प्रपठेद्यदि ।
स एव सिद्धलोकेशो निर्वाणपदमीयते ॥१६॥
समस्तमङ्गलं नाम कवचं परमाद्भुतम् ।
यस्मै कस्मै न दातव्यं न प्रकाश्यं कदाचन ॥१७॥
देयं शिष्याय शान्ताय चान्यथा पतनं भवेत् ।
अभक्तेभ्यश्च देवेशि ! पुत्रेभ्योऽपि न दर्शयेत् ॥१८॥
इदं कवचमज्ञात्वा दशविद्याञ्च यो जपेत् ।
स नाप्नोति फलस्तस्य चान्ते च नरकं व्रजेत् ॥१९॥
समाप्तं कवचं देवि ! किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ।
तव स्नेहानुबन्धेन किं मया न प्रकाशितम् ॥२०॥
॥ इति मातृकाभेदतन्त्रे स्त्रीगुरोः कवचं सम्पूर्णम् ॥

समाप्त

विद्यावारिधि - ग्रन्थमाला
वेद पुराण
इतिहास स्मृति
धार्मिक प्रकाशन संस्था
हरिद्वार